अष्टोत्तरशतनाममालिका

व्याख्या-सहिता

विद्यासागर शास्त्री

श्री मामराजसिंह ग्रन्थमाला–३

ओम्

अष्टोत्तरशतनाममालिका

व्याख्या-सहिता

लेखक—

वेदालंकार श्री पं० विद्यासागर शास्त्री

साहित्य-दर्शनाचार्य पञ्चतीर्थ

हरजीमल डालमिया पुरस्कार से पुरस्कृत

भू० पू० अध्यक्ष संस्कृत विभाग, सुभाष कालेज, उन्नाव

सम्पादक—

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४/३१२ रामगंज, अजमेर

मुद्रक—

श्री पं० बालकृष्ण शास्त्री

ज्योतिष प्रकाश प्रेस, कालभैरव मार्ग, वाराणसी

संवत् २०२०
सन् १९६३

प्रथमवार

सजिल्द १०-००
अजिल्द ८-००

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

उद्देश्य

इस संस्था के उद्देश्य "भारतीय प्राचीन वाङ्मय का अन्वेषण, रक्षण और प्रसार" है।

कार्य-क्रम

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रतिष्ठान के कार्य-क्रम को निम्न विभागों में बाँटा है—

१—भारतीय प्राचीन वाङ्मय का अनुसन्धान।

२—भारतीय प्राचीन वाङ्मय के अनुसन्धान द्वारा विभिन्न विषयों पर मौलिक ग्रन्थों तथा निबन्धों का लेखन और प्रकाशन।

३—भारतीय वाङ्मय के विविध विभागों के इतिहास तथा भारत के प्राचीन इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों का लेखन और प्रकाशन।

४—भारतीय प्राचीन वाङ्मय का शुद्ध सम्पादन तथा प्रकाशन।

५—भारतीय प्राचीन वाङ्मय का राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में प्रामाणिक अनुवाद।

६—संस्कृत वाङ्मय तथा इतिहास सम्बन्धी गवेषणात्मक त्रैमासिक "पत्रिका" का प्रकाशन।

७—उपर्युक्त कार्य-क्रम की पूर्ति के लिए "बृहत् पुस्तकालय" का निर्माण।

८—प्राचीन वाङ्मय की रक्षा और प्रसार के लिए 'साङ्गवेद-विद्यालय' का संचालन।

९—उद्देश्यों की पूर्ति करने हारे विशिष्ट साहित्य के प्रचार के लिए 'विक्रय-विभाग' का संचालन।

विशेष विवरण के लिए "प्रतिष्ठान की योजना, कार्य-क्रम तथा कृतकार्य-विवरण" पुस्तिका बिना मूल्य भेजी जाती है।

प्रतिष्ठान और बाहर के प्रकाशनों के लिए सूचीपत्र मँगवाइए।

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४/३१२ रामगंज
अजमेर

४९४३ रेगरपुरा, गली ४०
करोलबाग, नई दिल्ली ५।

जगद्विख्यात "अमृतधारा" के आविष्कारक ऋषि दयानन्द के
अनन्य भक्त तथा प्रसिद्ध दानवीर



स्वर्गीय श्री पं० ठाकुरदत्तजी शर्मा वैद्य

जिनकी पुण्य और पवित्र स्मृति में उनके परिवार की ओर से इस महनीय पुस्तक के प्रकाशन में ५००) रु० की सहायता प्रदान की गई।

लेखक के दो शब्द

बरेली मेरा अभिजन भी है और निवास भी। जब बाहर से कार्यनिवृत्त होता हूँ तो यहीं आ जाता हूँ। सन् १९६३ में गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन का अध्यापक-पद परित्याग कर बरेली आ रहा और कुछ काल पश्चात् बरेली के एक कालिज में प्राध्यापक-पद पर कार्य करने लगा। सम्भवतः सन् ४४ की बात है कि मु० साहूकारा बरेली की संस्कृत पाठशाला के प्रधानाचार्य श्री पं. शिवदत्त जी व्याकरणाचार्य ने लिखितरूप में सत्यार्थप्रकाश पर कुछ शंकाएँ कीं और आर्यसमाजियों से उनका उत्तर माँगा। इन शंकाओं में कुछ शंकाएँ नामसम्बन्धी भी थीं। उस समय तो मैंने इन शंकाओं का उत्तर बरेली के प्रसिद्ध आर्य दिवंगत रा. सा. डा. श्यामस्वरूप सत्यव्रत द्वारा संस्थापित "वैदिकसङ्घ" नाम की संस्था के मुखपत्र "सङ्घ" द्वारा दे दिया।

उसी समय मेरे चित्त में विचार उत्पन्न हुआ कि एक आचार्य शंकर के अनुयायी हैं जिन्होंने उनके भाष्य को व्याख्याओं, टीकाओं, टिप्पणियों द्वारा इतना सुरक्षित युक्तिसम्पन्न कर दिया है कि बड़े-बड़े विद्वानों को भी उस पर उंगली उठाते संकोच होता है और एक हम हैं जो दयानन्दके अनुयायी होने का दम भरते हैं किन्तु उनके लेखों की रक्षा के लिए करते कुछ नहीं। इसी विचार से प्रेरणा पाकर मैंने स्वयं ही सत्यार्थ-प्रकाश पर कार्य करने का विचार किया और उसका प्रारम्भ सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम समुल्लास में ग्रथित 'अष्टोत्तरशत-नाममालिका' (ईश्वर के १०८ नामों) की व्याख्या से किया।

कार्य प्रारम्भ कर देने पर दो मुख्य बाधाएँ उपस्थित हुईं। एक योग्य व्यक्तियों के सहयोग की, दूसरी आवश्यक पुस्तक सामग्री की प्राप्ति की। इन बाधाओं को दूर करने में मेरे परम सहायक हुए श्री रामानुजाचार्यसम्बद्ध आचार्य-पीठ बरेली के अध्यक्ष श्रील श्री स्वामी राघवाचार्य जी महाराज तथा उल्लिखित पीठ के प्रबन्धक श्री चतुर्भुजाचार्य (प्रसिद्ध छोटेलाल) जी महाराज। श्री स्वामीजी महाराज उभयविध वेदान्ताचार्य तथा एम.ए.एल.एल-बी हैं। पौरस्त्य तथा पाश्चात्य उभयविध ज्ञानविज्ञान के वेत्ता हैं, तथापि बड़े सरल, निरभिमानी तथा स्मित पूर्वाभिभाषी हैं। आपने मुझे जहाँ अपने विशाल पुस्तकालय के स्वच्छन्द प्रयोग की सुविधा दी, तथा समय-समय पर मेरी कठिनाइयों को

सुलझाने में सहायता दी, वहाँ प्रबन्धक महोदयने प्रत्येक समय मेरे लिए पुस्तकालय का द्वार उन्मुक्त रक्खा। यदि इन महानुभावों से इतना साहाय्य प्राप्त न होता तो कहा नहीं जा सकता कि यह व्याख्या क्या रूप धारण करती। अभी लेखनकार्य चल ही रहा था कि मेरी कनिष्ठ कन्या को, जो गृहकार्य तथा अध्ययन कार्य दोनों में दक्ष थी, क्रूरकाल ने कठोर कर्कश कर से घर खींचा। परिणाम यह हुआ कि व्याख्या उचित से अधिक समय में समाप्त हो सकी, तथा उस दिवंगत आत्मा की स्मृति की रक्षा के लिये इस व्याख्या का नाम भी "विनोदिनी" रख दिया।

अनन्तर दिवंगत श्री पं० भोलानाथ जी शर्मा अध्यक्ष संस्कृत विभाग बरेली कालिज, दिवंगत श्री स्वामी वेदानन्दजी, श्री स्वामी ब्रह्मानन्दजी, श्री पं० विश्वनाथजी विद्यालंकार आदि महानुभावों से विचार-विमर्श कर व्याख्या का स्वच्छ हस्तलेख तैयार किया गया। श्री शर्मा जी के सुझाव के अनुसार निर्दिष्ट नामों की एक पद्यमालिका भी बना कर लगा दी।

इस समय तक मैं सुभाष नेशनल कालेज में संस्कृत विभाग का अध्यक्ष होकर बरेली से उन्नाव आ चुका था। यहां आने के कुछ काल पश्चात् इसके मुद्रणका प्रश्न उपस्थित हुआ। दुर्भाग्यवश मैं अतिसंक्षिप्त वृत्ति का व्यक्ति हूँ, बहुजनपरिचय रहित हूँ, परिचय कला से भी अनभिज्ञ हूँ; अतः न तो कोई मेरी गुण-प्रशंसा वा अनुग्रह-प्रार्थना करने वाला है, न मेरी कहीं पहुँच है। इसलिए यह कार्य मेरे वश का नहीं था तथापि, सार्वदेशिक सभा, आ० प्र० नि० सभा उत्तरप्रदेश, आर्य साहित्य-मण्डल अजमेर आदि कुछ संस्थाओं से पत्र-व्यवहार किया; किन्तु कुछ फल न निकला, क्योंकि उन-उन सभा-सरोवरों में स्थित नक्र-मकरों ने वहाँ दूसरे का प्रवेश होने देना उचित न समझा। तब मैंने निराश हो इस व्याख्या के हस्तलेख को भली प्रकार बाँधकर पूर्ण विश्राम करने के लिए रख दिया।

इसी समय मुझे एम० ए० क्लास के विद्यार्थियों को वेद का पत्र पढ़ाते समय उन्हें वैदिक छन्दों तथा स्वरों का सरलतापूर्वक ज्ञान कराने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसके लिए मैंने कहीं से पता लगाकर श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक की दो पुस्तकें वैदिक छन्दोमीमांसा तथा वैदिक स्वर-मीमांसा मँगाई, और इनकी सहायता से छात्रों को इन विषयों का आवश्यक ज्ञान कराया। अनन्तर मैंने आपके द्वारा सम्पादित तथा रचित अनेक छोटी-बड़ी

पुस्तकें देखीं। मैं योग्य लेखक के विस्तृत ज्ञान तथा चतुरस्र दृष्टिकोण से अत्यन्त प्रभावित हुआ तथा मुझे लेखक महोदय की विद्वत्ता पर भरोसा हो गया।

एक दिन मेरे मन में अकस्मात् यह संकल्प आया कि श्री मीमांसक जी को भी यह व्याख्या दिखाई जाय। इस समय मैंने यह सोचा भी नहीं था कि यह भगवत्प्रेरणा इस पुस्तक के मुद्रण के लिए है। मैंने माननीय मीमांसक जी को लिखा और उनकी स्वीकृति आने पर अपना हस्तलेख उनकी सेवा में भेज दिया।

संसार में ऐसे व्यक्ति विरल ही होते हैं जो गुणी भी हों, गुणज्ञ भी हों, गुणग्राहक भी हों। मेरे सुकृतों के कारण श्री युधिष्ठिर जी के स्वरूप में मुझे सौभाग्य से ऐसा ही व्यक्ति मिल गया। महाकवि भवभूति ने ठीक ही कहा है—सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति। श्री मीमांसक जी ऋषिभक्त हैं, आर्षप्रणाली से अध्ययन कराने में पटु हैं, वेद-शास्त्रों के माने हुए विद्वान् हैं। आपकी विद्वत्ता के कारण ही अभी-अभी राजस्थान प्रशासन ने आपको ३००० रुपयों का पुरस्कार देकर सम्मानित किया है। आपने अपनी अनन्य कृपा से मुझे अनुगृहीत कर पुस्तक के प्रकाशन का भार अपने ऊपर ले लिया।

यह है पुस्तक के लिखे जाने से लेकर उसके प्रकाशित होने तक की संक्षिप्त कहानी। अन्त में मैं उन सभी महानुभावों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य में कुछ भी सहायता दी है तथा उनके प्रति हृदय से आभारी हूँ। यद्यपि यह मैं समझता हूँ कि श्री स्वामी जी महाराज तथा श्री मीमांसक जी महाराज के प्रति कृतज्ञता अथवा आभार मात्र प्रदर्शन कर उनके उपकार से उऋण नहीं हुआ जा सकता तथापि मैं करूं क्या? मेरे पास कुछ और है भी तो नहीं।

अन्त में परम पिता परमात्मा की उस महती कृपा का धन्यवाद है जिसके कारण अनेक कठिनाईयों को पाकर यह पुस्तक प्रकाशन में आ रही है।

श्रावणपूर्णिमा
संवत् २०२०
उन्नाव

विदुषामाश्रवः—
विद्यासागर शास्त्री

प्रकाशकीय

गुरुकुल कांगड़ी के लब्धप्रतिष्ठ स्नातक श्री पं. विद्यासागर जी शास्त्री, वेदालंकार की **अष्टोत्तरशतनाममालिका** पुस्तक विद्वज्जनों और स्वाध्याय-शील आर्यजनों के करकमलों में उपस्थित करते हुए हर्ष और विषाद दोनों हो रहे हैं। हर्ष तो इस बात का है कि श्रद्धेय अशेषशेमुषीसम्पन्न स्वामी दयानन्दसरस्वती के सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में व्याख्यात ईश्वरनामों के अत्यंत शोधपूर्ण, प्रौढ़ और प्रामाणिक व्याख्यानरूप इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है और विषाद इस बात का है कि लेखक तथा मेरे द्वारा बहुविध प्रयत्न करने पर भी ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को प्रकाशित करने को कोई सभा वा संस्था, जिनका यह प्रमुख कार्य है, उद्यत न हुई। यह हमारी शिरोमणि सभाओं वा संस्थाओं की अकर्मण्यता की पराकाष्ठा है।

ग्रन्थ के विषय में—लगभग एक वर्ष हुआ, माननीय पं. विद्यासागर जी शास्त्री का मुझे एक पत्र प्राप्त हुआ, जिसमें इस पुस्तक को अवलोकन करने के लिए लिखा था। मेरा पण्डित जी से कोई पूर्व संसर्ग न था। मैं उनके विषय में कुछ जानता भी न था (क्योंकि मैं कहीं आता-जाता नहीं, अतः मेरे परिचय का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है)। सम्भवतः माननीय पण्डित जी मेरे कतिपय ग्रन्थ देख चुके थे, उसी से प्रेरित होकर आपने उक्त पत्र लिखा होगा।[1] अस्तु। मैंने भी श्री स्वामी जी महाराज के प्रति सश्रद्ध होने से उनके महान् ग्रन्थ पर लिखे गये ग्रन्थ का अवलोकन करना अपना कर्तव्य समझा और आपको पत्र द्वारा सूचित किया कि 'आप अवलोकनार्थ उक्त ग्रन्थ भेज सकते हैं। मैं यथावकाश उसे देखकर स्वसम्मतिपूर्वक लौटा दूंगा, परन्तु कार्याधिक्य से कुछ समय अवश्य लगेगा।'

मेरा पत्र पाकर माननीय पण्डित जी ने **'अष्टोत्तरशतनाममालिका'** पुस्तक मेरे पास भेज दी। पुस्तक प्राप्त होते ही कुतुहलवश उसे यत्र-तत्र देखा। देखकर मेरे आश्चर्य और सौख्य की कोई सीमा न रही। मैं तो सोचने

---

१. इस वक्तव्य के लिखने के पश्चात् माननीय लेखक महोदय के 'लेखक के दो शब्द' शीर्षक लेख प्राप्त हुआ, उससे इस अनुमान की पुष्टि हुई।

लगा—क्या इस अर्थप्रधान युग में दयानन्द सरस्वती पर श्रद्धा और विश्वास रखकर तथा लोकैषणा से दूर रहकर कोई विद्वान् ऐसा उत्तम प्रौढ़ ग्रन्थ लिख सकता है ?

मैंने यथासमय पुस्तक को समग्र रूप में देखा। एक अकिंचन ब्राह्मण के वैदुष्य, श्रद्धा और तप से निस्पन्दित लेखनी से लिखे गये ग्रन्थ का अवलोकन कर मेरा हृदय गद्‌गद हो गया और मेरा शिर पण्डित जी के प्रति स्वतः नत हो गया। किसी कवि ने सत्य ही कहा है—

विद्वान् एव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।
न हि वन्ध्या विजानति गुर्वीं प्रसववेदनाम्॥

मैं कोई विद्वान् नहीं, हाँ मैं इस पथ का पथिक अवश्य हूँ। इसी कारण मैं अनुमान कर सकता हूँ कि माननीय पण्डित जी ने इस महान् उत्कृष्ट ग्रन्थ को लिखने में कितने वर्षों तक दिन-रात एक करके परिश्रम किया होगा। आर्यसमाजों तथा प्रतिष्ठित सभाओं के अधिकारी और नेता लोग, जो अपने अधिकार और नेतृत्व के मद में विद्वानों के परिश्रम को कतिपय चांदी के टुकड़ों से तौलने का दुस्साहस करते हैं, क्या समझें।

ग्रन्थ का सम्पादन—ग्रन्थ की श्रेष्ठता को देखते हुए उसे और श्रेष्ठ बनाने के विचार से मैंने इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र साधारण संशोधन करने और टिप्पणी में अपने विचार व्यक्त करने की अनुमति माँगी। सहृदय विद्वान् लेखक ने इसे सहर्ष स्वीकार किया और मैंने यथास्थान संशोधन और पाद-टिप्पणी जोड़ने का प्रयास किया।

यद्यपि ग्रन्थ अत्यन्त विद्वत्ता और परिश्रम से लिखा गया है, पुनरपि इसमें कतिपय स्थल ऐसे हैं जहाँ मेरा लेखक से वैमत्य है। वैमत्य होना स्वाभाविक है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं है। इसीलिए किंवदन्ती प्रसिद्ध है—

मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना।

मैंने लेखक के विचारों का आदर करते हुए जहाँ मेरा मतभेद था वहाँ अपने विचार टिप्पणी में दर्शा दिये हैं। यत्किंचित् वैमत्य के प्रदर्शन से ग्रन्थकार के ग्रन्थ का मूल्य न्यून नहीं होता, अपितु उभयविध विचारधारा के सन्मुख आ जाने से विचारकों की दृष्टि में उसका मूल्य बढ़ जाता है। इसी शुद्ध भावना से मैंने यत्र-तत्र अपने विचारों का प्रदर्शन किया है।

प्रकाशन के लिए प्रयास—पुस्तक को पढ़कर चिन्ता हुई कि आर्य-समाज की कोई सभा वा संस्था इसे प्रकाशित करने को उद्यत न होगी, क्योंकि वे ऐसे ग्रन्थों को प्रकाशित करना, जिनसे द्विगुणित-त्रिगुणित अर्थलाभ न हो, अपना कर्तव्य नहीं समझतीं। तो क्या यह महान् ग्रन्थ यूँ ही पड़ा रह जाएगा। यदि दुर्भाग्यवश ऐसा ही हुआ तो माननीय पण्डित जी का परिश्रम निश्चय ही असफल हो जाएगा। यह विचार कर मैंने पण्डित जी से ही पूछा कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन की क्या व्यवस्था हुई है? मेरे प्रश्न के उत्तर में पण्डित जी का जो पत्र आया[1], उससे मुझे कोई आश्चर्य न हुआ, क्योंकि सम्प्रति आर्यसमाजों और प्रतिष्ठित सभाओं तथा संस्थाओं की यही स्थिति है।

मैं स्वयं इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने में असमर्थ था, अतः मैंने दो-चार पत्रों में इस ग्रन्थ के महत्त्व की चर्चा की। उसे पढ़कर कतिपय व्यक्तियों के पत्र इस सम्बन्ध में प्राप्त हुए। साथ ही मैंने स्वयं दो-तीन साधन-सम्पन्न संस्थाओं से इसके प्रकाशन की व्यवस्था के लिए बातचीत की, परन्तु सब अरण्यरोदन के समान निष्फल हुआ। न कोई संस्था प्रकाशन को तैयार हुई और न किसी व्यक्ति ने इस विषय में कुछ सहयोग देने का आश्वासन दिया। हाँ, दो सज्जनों ने यह सुझाव अवश्य दिया कि यदि इस ग्रन्थ को संक्षिप्त कर दें तो हम प्रकाशित कर देंगे। मेरे लिए इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को, जो अपने महत्त्वपूर्ण विषय की दृष्टि से पहले ही संक्षिप्त है, और संक्षिप्त करना असम्भव था।

प्रकाशन की व्यवस्था—सब ओर से निराश होकर मैंने एक दानी-मानी श्रेष्ठी महानुभाव से इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए १०००) रुपए तीन वर्ष के लिए ऋणरूप में देने को लिखा, परन्तु वहाँ से भी पूर्ण नकारात्मक उत्तर प्राप्त हुआ।

मेरे पास साधन नहीं, और अब तो मैं टंकारा ट्रस्ट का कार्य छोड़ चुका, नया कोई आय का साधन प्राप्त नहीं हुआ, साथ ही प्रतिष्ठान के प्रकाशनों पर लगभग १०-१२ सहस्र रुपया व्यय कर चुका (इसमें से लगभग आधा अंश मित्रों से सहयोग रूप में प्राप्त हुआ है), ऐसी विकट परिस्थिति में इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार उठाने का सामर्थ्य मेरे में यत्किंचित् नहीं था,

---

१. उन्हीं बातों का उल्लेख लेखक महोदय ने अपने 'लेखक के दो शब्द' वक्तव्य में किया है।

पुनरपि एक योग्य विद्वान् का श्रद्धा, निष्ठा और तपपूर्वक किया हुआ लेखन-कार्य निष्फल न हो, इसलिए मैं इसे कथंचित् प्रकाशित कर रहा हूँ।

मैं भुक्तभोगी होने से यह भले प्रकार जानता हूँ कि दयानन्दसरस्वती के महत्त्व और उनके कार्य के गौरव को बढ़ाने वाला कोई भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आर्यसमाज में बिकता नहीं, छपाई में लगे द्रव्य का न्यूनातिन्यून आधा भाग तो वापस आता ही नहीं, कोई भी ऐसा ग्रन्थ २५०-३०० प्रतियों से अधिक बिकता नहीं। मैं **'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास'**, **'दयानन्द जीवनी-साहित्य'** और **'विरजानन्द प्रकाश'** ग्रन्थों को छपवाकर लगभग दो सहस्र रुपयों का घाटा उठा चुका हूँ। यही दशा इस ग्रन्थ की भी होगी, यह सर्वथा निश्चित है।

ऐसी विषम परिस्थिति में भी मैं **'इदं दयानन्दाय इदं न मम'** का संकल्प लेकर इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर रहा हूँ। इसलिए मुझे इसमें लगाये द्रव्य के न लौटने पर भी कोई दुःख न होगा। हाँ, लेखक महोदय को इतना संतोष तो अवश्य होगा कि उनका किया परिश्रम व्यर्थ न गया और मुझे इस बात का संतोष होगा कि दयानन्द की महत्ता और कार्य के गौरव को बढ़ाने वाले कार्य में मैंने कुछ क्रियात्मक भाग लिया।

आर्यसाहित्य-सृजन का गत्यवरोध—आर्यसमाज के प्रारम्भिक दिनों में जब आर्य-जनों की संख्या भी अँगुलियों पर गिनने योग्य थी, बहुत मात्रा में आर्य-साहित्य लिखा जाता था और प्रकाशित होता था। स्वर्गीय श्री लेखराम जी, श्री स्वामी दर्शनानन्द जी, श्री पं० आर्यमुनि जी, श्री स्वामी तुलसीराम जी श्री पं० शिवशंकर जी आदि साहित्य-सृजन में ही लगे रहते थे। किन्तु अब आर्यों की संख्या पर्याप्त बढ़ गई, परन्तु न वैसे विद्वान् लेखक ही आर्यसमाज में उत्पन्न हो रहे हैं और न प्रौढ़ साहित्य का प्रकाशन ही हो रहा है। मैं लगभग ३० वर्ष से देख रहा हूँ कि आर्यसमाज में प्रौढ़ साहित्य का सृजन और प्रकाशन उत्तरोत्तर समाप्त हो रहा है। यदि यही दशा रही, तो वर्त्तमान पीढ़ी के दो-चार विशिष्ट व्यक्तियों के पश्चात् यह क्रम सर्वथा अवरुद्ध हो जाएगा। इसलिए साहित्य-सृजनविषयक गत्यवरोध के कारणों पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

साहित्य-सृजन-गत्यवरोध के कारण—उत्कृष्ट प्रौढ़ साहित्य-सृजन में गत्यवरोध आने के तीन प्रधान कारण हैं—

१—आर्य जनों की स्वाध्याय में रुचि दिन-प्रतिदिन घट रही है। अब तो वह प्रायः समाप्त ही हो गई है।

२—संस्थाओं और सभाओं में पद वा सदस्यता के भूखे, आँख के अंधे, महत्त्वाकांक्षी और अविद्वान् अधिकारियों वा सदस्यों का होना।

३—विद्वान् की अप्रतिष्ठा अथवा कतिपय चाँदी के टुकड़ों का उसे नौकर समझना।

इन कारणों की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार समझें—

१—आर्य-जनों में स्वाध्याय की रुचि नष्ट हो जाने से उनके ज्ञान का स्तर बहुत गिर गया है। उन्हें साधारण संस्कृतनिष्ठ आर्यभाषा (हिन्दी) ही समझ में नहीं आती, शास्त्रीय गहन विषयों की समझ तो दूर की बात है। अतः उत्कृष्ट ग्रन्थों को वे 'कठिन हैं, हमारी समझ में नहीं आते' कहकर क्रय नहीं करते। ग्रन्थों की बिक्री न होने से कोई प्रकाशक ऐसे ग्रन्थों को प्रकाशित करने को उद्यत नहीं होता।

२—अविद्वान् अधिकारी ग्रन्थ की उपयोगिता को समझ नहीं सकते, अतः वे उन संस्थाओं से भी, जिन का प्रधान उद्देश्य ऐसे साहित्य का प्रकाशन वा प्रचार करना है, प्रकाशित नहीं करते।

३—विद्वानों को नौकर समझने की प्रवृत्ति के कारण कतिपय अधिकारी उनकी पुस्तकें इसलिए नहीं छापते कि कहीं हमारे अधीनस्थ व्यक्ति की प्रतिष्ठा समाज में हमसे अधिक न बढ़ जाए।

इसके साथ ही एक कारण और भी है, प्रत्येक अधिकारी यदि वह सुज्ञ है तो यह चाहता है कि पुस्तक में सभी बातें वा विचार मेरे विचारों के अनुकूल ही लिखे होने चाहिएं। कभी-कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि लेखक और प्रकाशक में ५ प्रतिशत ही मत भेद हो तो भी वह ९५ प्रतिशत मतैक्य को आँखों से ओझल करके अत्यल्प मतभेद को महत्त्व देकर पुस्तक को छापने से मना कर देता है, अथवा भूमिका आदि में ऐसा टिप्पण दे देता है कि ग्रन्थ का महत्त्व प्रायः नष्ट-सा हो जाता है।

सुधार के उपाय—यदि युगप्रवर्तक देश, जाति और समाज के अप्रतिम उद्धारक स्वामी दयानन्दसरस्वती के लगाये गये आर्यसमाजरूपी पौधे, जिसकी छाया में वे सकल संसार को आर्य बनाकर अभ्युदय और निःश्रेयस से सुखी

से युक्त करने की अभिलाषा रखते थे, का इस पतित अवस्था से उद्धार करना अभिप्रेत हो तो उसके चार ही उपाय हैं—

१—प्रत्येक आर्य प्रतिदिन स्वाध्याय का व्रत लेकर **'वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है'** नियमवर्णित **परम धर्म** का पालन करे। उससे ज्ञान की वृद्धि होगी, अज्ञान का नाश होगा, धूर्त-पाखण्डी पण्डितब्रुवों से छुटकारा पाकर हित-अहित को स्वयं विचारने की शक्ति प्राप्त होगी। अन्यथा आर्यजन भी दयानन्द पर अगाध श्रद्धा प्रकट करने वाले दम्भी स्वार्थी उदरपरायण पण्डितब्रुवों के चक्कर में पड़कर शुद्ध, सात्विक, सत्यनिष्ठ, सच्चे विद्वानों से दूर रहकर अपनी हानि कर लेंगे, जैसा की वर्तमान में हो रहा है।

२—सभा-समिति वा संस्था आदि के अधिकारियों के चुनाव के समय धन और प्रतिष्ठा का विचार न करके विद्वानों को वा अपने में विशिष्ट ज्ञानियों को इन पदों पर प्रतिष्ठित करना चाहिए।

३—विद्वानों का उचित आदर करना चाहिए। वेद के शब्दों में विद्वानों की उसी प्रकार अन्न पान आदि विविध निर्वाह सामग्री से सेवा करनी चाहिए जैसे विशिष्ट अवसर के लिए घोड़े आदि वाहन की विना दैनिक कार्य लिये सेवा की जाती है—

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने। अथ० १९।५५।६॥

यदि विद्वान् निर्वाहार्थ कुछ दक्षिणा भी लेते हों, तो भी उन्हें अपना भृत्य न समझें। उन्हें आदेश देने की धृष्टता न करके (जैसे सभाओं के अधिकारी उपदेशकों और समाज के अधिकारी पुरोहितों पर शासन करते हैं) उनसे स्वयं आदेश लेने की अथवा समाज वा सभा के कार्य की सिद्धि के लिए मार्ग-प्रदर्शन की प्रार्थना करनी चाहिए।

४—समाज में ज्ञान, तप और सदाचार को ही प्रतिष्ठा देनी चाहिए, धन आदि को नहीं। जब तक समाज में ज्ञान, तप और सदाचार की प्रतिष्ठा न होगी, सच्चे त्यागी-तपस्वी सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण उत्पन्न न होंगे, अथवा जो सच्चे ब्राह्मण होंगे वे भी ऐसी निकम्मी समाज से उपरत हो जाएँगे। बिना सच्चे त्यागी-तपस्वी ब्राह्मणों के देश, जाति और समाज का कभी कल्याण न होगा।

आर्यसमाज की बड़ी-बड़ी सभाओं संस्थाओं का यह प्रधान कर्त्तव्य है कि वे ऐसे उत्कृष्ट सच्चे ब्राह्मणों को ढूँढ-ढूँढकर (सच्चे त्यागी ब्राह्मण प्रायः

छिपे हुए रहते हैं, सभाओं से दूर रहते हैं) उन्हें उनके योग्य कार्य सौंपकर उनकी सर्वात्मना सेवा शुश्रूषा करें।

विद्वान् की महत्ता और हमारी संस्थाएँ—प्राचीन काल में आर्यावर्त्त में विद्वानों का जो मान था, प्रतिष्ठा थी, उसका सहस्रांश भी हमारी समाजों में विद्वानों को प्राप्त नहीं, स्वामी दयानन्दसरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' के षष्ठ समुल्लास में स्वायम्भुव मनु का एक श्लोक उद्धृत किया है—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥ मनु० १२।११३॥

अर्थात्—अकेला भी वेदविद् ब्राह्मण जिस धर्म की व्यवस्था करे (जिसे धर्मरूप से प्रतिष्ठित करे) उसे परम धर्म जानना चाहिए, सहस्रों-लाखों अज्ञानियों के कथन को (चाहे कितनी ही बहु-सम्मति क्यों न हो) धर्म नहीं मानना चाहिए।

क्या आज आर्यसमाज में इस प्राचीन व्यवस्था के विपरीत एक विद्वान् को सम्मति का मूल्य एक ग्राम्य पांसुलपाद के बराबर नहीं मानी जाती ?

इतना ही नहीं, आगे पुनः दूसरा श्लोक उद्धृत किया है—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समवेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥ मनु० १२।११४॥

सत्याचरण आदि व्रताचरण से रहित, जाति = मानवशरीरमात्र का आश्रय करके जीने वाले इकट्ठे हुए सहस्रों मनुष्यों की भी परिषत् (धर्मनिर्णायक सभा) नहीं कहाती।

आज आर्यसमाज के सभी संगठनों की यही एकमात्र स्थिति है। किसी भी कार्य के लिए विशेषज्ञों की समिति बना देने पर उनकी सर्वसम्मति से किये गये निर्णयों के औचित्य वा अनौचित्य की परीक्षा वा उस पर मान्यता की मुद्रा वे लोग लगाते हैं जिनका उस विषय से दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता। हमारी धर्मार्य सभा के कतिपय पठित व्यक्तियों के निर्णयों पर प्रामाणिकता की मुद्रा लगाने अथवा उसे अस्वीकृत करने का सर्वाधिकार सार्वदेशिक सभा की साधारण सभा को है। क्या यह विद्वत् परिषद् का घोर अपमान नहीं है ? ऐसे अपमान की अपेक्षा विद्वान् के लिए चुल्लूभर पानी में डूब मरना श्रेयस्कर है।

संन्यासी और अधिकार-लिप्सा—इसके साथ ही इस एक बात पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए कि संन्यासी विद्वानों (ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थ) से भी ऊपर होता है, वह सम्राटों का भी सम्राट् अर्थात् परिव्राट् है। उसे अपने सामाजिक पद का ध्यान रखते हुए किसी भी समिति वा संस्था का भूल कर भी प्रधान वा मन्त्री नहीं बनना चाहिए। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द को बम्बई और लाहौर की समाजों ने अपना प्रधान बनाना सर्व-सम्मति से स्वीकार किया, परन्तु ऋषि दयानन्द ने उसे सर्वथा अस्वीकृत कर दिया। हमें अपने गुरुजनों के आचार से भी शिक्षा लेनी चाहिए। इसीलिए तो ऋषियों ने कहा है—

यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः। तै० उ०।

अर्थात् किसी कर्म वा व्यवहार में संशय हो (यह करने योग्य है वा नहीं ?) तो उस विषय में श्रेष्ठ ब्राह्मण जो विचारशील, प्रामाणिक (= प्रमाणार्ह), कर्म में निरत, प्रसन्नमति धर्मप्रिय हों, वे उस विषय में जैसे व्यवहार करते हैं वैसा व्यवहार करना चाहिए।

इसी तत्त्व का उपदेश महामुनि कृष्णद्वैपायन व्यास ने अतिसंक्षेप से इस प्रकार किया है—

महाजनो येन गतः स पन्थाः।

उक्त पद-अपरिग्रह रूप नियम अटल रहने पर ही संन्यासियों की **परिव्राट्** अवस्था का संरक्षण हो सकता है और उसी अवस्था में जनता उनका पूर्ण आदर करेगी, अन्यथा प्रधानादि पद पर प्रतिष्ठित होने की लालसा होने पर उसकी प्राप्ति के लिए विविध प्रकार की अनैतिकता का आश्रय लेना ही पड़ेगा, जैसा कि प्रायः प्रतिवर्ष शिरोमणि-सभाओं के चुनावों के अवसर पर देखने में आता है।

पण्डितब्रुवों से सावधानता की आवश्यकता—आर्यसमाज के प्रत्येक सदस्य के हृदय में ऋषि दयानन्द सरस्वती के प्रति गहरी श्रद्धा स्वभावतः विद्यमान है। परन्तु आर्य-जनों के स्वाध्याय के परित्याग के कारण वे ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों को स्वयं पढ़ते नहीं, इतना ही नहीं, उनमें स्वाध्याय के अभाव के कारण समझने की शक्ति भी नहीं रही। उनकी इस दीन-हीन

दशा से अपना स्वार्थ साधन करने वाले कतिपय व्यक्ति अनुचितलाभ उठाकर अन्य विद्वानों को दयानन्द का द्रोही वा आर्यसमाज का शत्रु घोषित करके और दयानन्द के प्रति अपनी अटूट अपरिमित श्रद्धा-भक्ति का प्रकाशन करके उदर-पूर्त्ति कर रहे हैं। जन-साधारण अपनी अज्ञता के कारण उनको प्रश्रय देते हैं। इस प्रकार के उदर-परायण व्यक्तियों में त्याग, तप, सच्चरित्रता, वाक्पवित्रता, अर्थ-पवित्रता आदि का लेशमात्र भी नहीं होता। ऐसे स्वार्थी लोग अपने स्वार्थसाधन के लिए अवसर पड़ने पर अधिकारियों के (जिनको वे परोक्ष में चाहे कितनी ही गालियाँ क्यों न देते हों) पादतल चाटने (चापलूसी करने) में भी पीछे नहीं रहते।

ऐसे पण्डितब्रुव आर्यसमाज में एक-दो नहीं बहुत से विद्यमान हैं। ये आर्यजनों के हृदयों में स्वभावतः निहित दयानन्दविषयक श्रद्धा को उभारकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं।[1] ऐसे भावशुद्धि-विरहित स्वार्थी, दम्भी, कपटी, साक्षर व्यक्तियों से आर्यजनों को विशेषकर अधिकारियों को सर्वदा सावधान रहना चाहिए। परन्तु खेद इसी बात का है कि पदलोलुप अथवा स्वार्थी अधिकारी ऐसे धूर्तों का आश्रय लेकर ही अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं, फिर वे इन्हें किस प्रकार दुत्कारें। ऐसे पण्डितब्रुवों का समाज में पनपना समाज के लिए महान् घातक है। ये साक्षर नहीं, अपितु लौकिक वर्णव्यत्यय होकर राक्षस बने हुए हैं।

---

१. इस लोकवञ्चना विद्या (= अविद्या) में चतुर एक व्यक्ति ने अपने आरम्भिक काल में 'आर्षपाठविधि' के प्रचार का आश्रय लेकर और उत्तरप्रदेश आर्य-प्रतिनिधि सभा में प्रविष्ट होकर गुरुकुल वृन्दावन में पाठविधि विषयक उथल-पुथल मचा दी, किन्तु उनका स्वयं का आचरण ऐसा है कि अपनें एक पुत्र को भी आर्षपाठ-विधि से पढाना तो दूर रहा स्कूल-कालेज में भी संस्कृत के पास नहीं फटकने दिया। इतना ही नहीं, स्वयं जीवन के अपराह्न में अनार्ष ग्रन्थों से भरपूर साहित्याचार्य और एम. ए. की परीक्षाएँ दीं। क्या यही दयानन्द की आर्षपाठ विधि है ? क्या यही दयानन्द की आर्षपाठ-विधि विषयक भक्ति है ? महापुरुषों ने ठीक ही कहा है—परोपदेश कुशल बहुतेरे। इनके कतिपय साथी भी इसी प्रकार के हैं। हों भी क्यों नहीं; समानव्यसनेषु मैत्री, चोर-चोर मौसेरे भाई।

विद्यादम्भः क्षणस्थायी—उपर्युक्त प्रकार के पण्डितब्रुव स्वयं को दयानन्द का परमश्रद्धालु प्रकट करने के लिए और अज्ञ अधिकारियों के कृपा-भाजन बने रहने के लिए प्रचार करते रहते हैं कि दयानन्द के परोपकारिणी सभा द्वारा छापे गये ग्रन्थों आदि की भी किसी प्रकार की कोई भूल नहीं है, अशुद्धि नहीं है, जो व्यक्ति दयानन्द के छपे हुए ग्रन्थों में छापे की भी किसी प्रकार की भूल दिखाता है तो वह दयानन्द का शत्रु है और मूर्ख है। परन्तु ऐसे पण्डित-ब्रुवों में यह शक्ति नहीं कि वे विरोधियों द्वारा ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दें। दें भी भला कहाँ से, जब विद्या हो, शास्त्र का गम्भीर ज्ञान हो, प्रतिपक्षी के आक्षेपों को समझने और उनका यथोचित उत्तर देने का सामर्थ्य हो। ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए **स्थितप्रज्ञता** चाहिए। स्वार्थी, दम्भी, कपटी कभी स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता। उसे सर्वदा नये नये स्वार्थ की सिद्धि के उपाय और पूर्व किये दम्भ के प्रकट होने के भय की ही चिन्ता सताती रहती है। अतः ऐसे पण्डितब्रुव दूसरों की निन्दा करके ही अपना श्रेष्ठत्व प्रख्यापित करते हैं, स्वयं श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न नहीं करते।

आर्यसमाज के लिए स्वर्ण-अवसर—वर्त्तमान में भारतीय प्राचीन वाङ्मय की जो दुर्दशा है, उसे देखते हुए सम्प्रति आर्यसमाज के लिए एक सुवर्ण अवसर है। यदि आर्यसमाज के नेता लोग और परोपकारिणी सभा के अधिकारी लोग इस समय सचेत होकर ऋषि दयानन्द द्वारा उल्लिखित परोप-कारिणी सभा के विधान की प्रथम धारा[1] के अनुसार प्राचीन आर्ष वाङ्मय के प्रकाशन का कार्य अपने हाथ में लेलें तो २५ वर्ष के भीतर-भीतर प्राचीन आर्ष वाङ्मय के प्रसार द्वारा ऋषि दयानन्द की विचार-धारा सम्पूर्ण भूमण्डल के विद्वानों तक पहुँचा सकते हैं।

ऋषि दयानन्द की विचारधारा को समस्त विद्वानों तक पहुँचाने का यह सर्वथा सरल और अल्पतम काल साध्य उपाय है। योरोपीय विद्वानों ने इसी उपाय का अवलम्बन करके अर्थात् हमारे ग्रन्थों का सुन्दर वा शुद्ध प्रकाशन करके उनकी भूमिका आदि में भारतीय वाङ्मय, इतिहास और संस्कृति के विरुद्ध विषवमन करके ही पठित समाज को भ्रान्त किया। ऋषि दयानन्द पहले व्यक्ति हुये जिन्होंने योरोपीय विद्वानों की इस दुरभिसन्धि को पहचाना

---

१. वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने, छापने-छपवाने आदि में।

और उन्होंने उसी मार्ग का अवलम्बन करके योरोपियन और भारतीय भ्रान्तियों के निराकरण के लिए कार्य आरम्भ किया, निघण्टु और वर्णोच्चारण शिक्षा की भूमिका इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

परोपकारिणी सभा की स्थापना का उद्देश्य—जहाँ तक मैं समझता हूँ आर्यसमाज की स्थापना करने के पश्चात् परोपकारिणी सभा की स्थापना करने के प्रयत्न में उक्त विचार धारा भी अन्तःस्यूत थी।[1] अतएव उन्होंने परोपकारिणी सभा की प्रथम धारा इस प्रकार लिखी—

वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्यवस्था करने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने, छापने-छपवाने आदि में।

यदि आर्यसमाज और परोपकारिणी सभा के नेता वा अधिकारी-गण मिलकर प्राचीन आर्ष-ग्रन्थों के प्रकाशन की और उनकी भूमिका में पाश्चात्य विचार-धारा का खण्डन करते हुए भारतीय वाङ्मय, इतिहास और संस्कृति के पोषण की कुछ व्यवस्था करें तो देश, जाति और समाज का महान् कल्याण होगा।[2] आर्षज्ञान संसार में सुरक्षित रहेगा तो कभी न कभी पुनरपि विरजानन्द और दयानन्द उत्पन्न हो सकते हैं। उसके लुप्त हो जाने पर न केवल भारत अपितु समस्त संसार सदा के लिए अज्ञानावृत हो जाएगा। यही आर्ष-ग्रन्थों की महिमा है, इसीलिए विरजानन्द और दयानन्द जीये और बलि हुए।

उपसंहार

प्रकाशकीय वक्तव्य के रूप में प्रसक्तानुप्रसक्त बहुत कुछ लिख गया। सम्भव है इसके कतिपय अंश किन्हीं महानुभावों को कटु लगें। परन्तु जो भी मैंने लिखा है वह आर्यसमाज के हित की बुद्धि से लिखा है और सत्य लिखा है। सत्य लेख स्वभावतः कटु होता है अथवा प्रतीत होता है। इसीलिए तो शास्त्रकारों ने कहा है—

अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।

---

१. मेरे विचार में सांस्कृतिक कार्य का प्रधान उत्तरदायित्व आर्यसमाज पर है और साहित्यिक कार्य का परोपकारिणी सभा पर।

२. आज शतशः ऐसे आर्ष-ग्रन्थ अलब्ध हैं जो आज तक एक बार भी नहीं छपे अथवा छपकर भी अत्यन्त दुर्लभ हो गए। उनका मुद्रण होने पर संसार के प्रत्येक शोधकार्यप्रिय व्यक्ति को उन्हें क्रय करना ही होगा और नये पुस्तकालयों को संग्रह करना ही होगा।

अन्त में मैं इस ग्रन्थ के लेखक श्री विद्वद्वर विद्यासागर जी शास्त्री का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने वित्तैषणा और लोकैषणा से दूर रहते हुए इस अतिशय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का लेखनकार्य किया। आर्यसमाज के अन्य विद्वान् वा नेता वा अधिकारी आपके इस महान् प्रयास का मूल्याङ्कन करें वा न करें, परन्तु मैं तो आपके इस कार्य से अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ और इसी कारण यत्किंचित् द्रव्य न होते हुए भी इधर-उधर से कुछ जोड़-तोड़ करके इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को प्रकाशित कर रहा हूँ और वह भी उस अवस्था में जब मेरे स्वीय दो-तीन ग्रन्थ चिरकाल से लिखे हुए अप्रकाशित पड़े हैं (उनके प्रकाशन की व्यवस्था द्रव्याभाव से अभी तक न कर सका)। मैं समझता हूँ कि यह सब देव दयानन्द के प्रति हृदय में निहित श्रद्धा का ही प्रभाव है जिसने मुझे इस कार्य को करने के लिए प्रेरणा दी और शक्ति प्रदान की।

भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वह मुझे शक्ति प्रदान करे और साधनों को सुलभ करावे जिससे मैं देव दयानन्द के महान् ऋण के एक कणमात्र अंश से भी उॠण होकर अपने जीवन को सफल बना सकूँ।

साथ ही मित्रवर (समानव्यसनेषु मैत्री) पं० विद्यासागर जी शास्त्री से भी अनुरोध करता हूँ कि जैसा आपने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास पर यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, उसी प्रकार उसके अन्य अंशों पर भी कुछ लिख कर **यशःशरीर** से अमर हों।

महान् व्यक्तियों के सहारे साधारण जन भी तर जाते हैं, फिर आपने तो उस अप्रतिम, अति महान्, अशेषशेमुषीसम्पन्न, लोकल्याणैकगुणाकर दयानन्द-सरस्वती के यशःशरीर के विस्तार और संरक्षण में क्रियात्मक योगदान दिया, जिसके जैसा दिव्य पुरुष भारत के इतिहास में स्वायम्भुव मनु के पश्चात् प्रकट हुआ मुझे दिखाई नहीं देता। इस महापुरुष के जीवन को अथवा क्रियाकलाप को जिस ओर से भी देखा जाए सर्वाङ्ग परिपूर्ण ही दिखाई देता है। यह ऐसा दिव्य पुरुष है कि इस पर देश, काल और परिस्थिति का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। यदि वह प्रभावित है तो एकमात्र वेद से, और उसका कोई उपोद्बलक शास्त्र है तो वह स्वायम्भुव मनु का धर्मागम (स्मृति)।

यद्यपि ग्रन्थकार के समान मैं भी इस ग्रन्थ का प्रकाशन **स्वान्तःसुखाय** कर रहा हूँ और **इदं दयानन्दाय, इदं न मम** की भावना से प्रेरित होकर

कर रहा हूँ, पुनरपि यदि किन्हीं दो-चार व्यक्तियों के हृदय में भी इस ग्रन्थ के द्वारा दयानन्द की महत्ता अङ्कित होने में सहायता मिलेगी तो हम दोनों (लेखक और प्रकाशक) अपने प्रयत्न को लौकिक दृष्टि से भी सफल समझेंगे।

विशिष्ट सहायता

अभी-अभी स्वर्गीय श्री पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा अमृतधारा धर्मार्थ ट्रस्ट के मन्त्री श्री माननीय पं० हीरानन्द जी शर्मा का पत्र प्राप्त हुआ है। उसमें आपने लिखा है कि "स्वर्गीय श्री पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा के सुपुत्र श्री डा० बलदेवजी शर्मा ने अपने पूज्य पिता जी की पुण्य-स्मृति में स्वीय परिवार की ओर से अष्टोत्तरशतनाममालिका (सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास व्याख्यारूप) ग्रन्थ के प्रकाशन-व्यय मध्ये ५००) पाँच सौ रुपयों की सहायता देनी स्वीकार की है।"

इस शुभ और विशिष्ट सहायता के लिए श्री डा० बलदेव जी शर्मा और माननीय श्री पं० हीरानन्दजी शर्मा का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। आशा है श्री डा० बलदेव जी शर्मा अपने पूज्य पिताजी के चरण-चिह्नों पर चलते हुए आर्यसमाज और वैदिक धर्म के प्रचार और वृद्धि में मुक्तहस्त तन, मन, धन से सहायता करते रहेंगे।

विशेष अनुग्राहक—'ज्योतिष प्रकाश प्रेस-वाराणसी' के स्वामी श्री पं० बालकृष्ण जी शास्त्री का सदा ही मुझ पर अनुग्रह रहा है। इस बार भी आपने इस पुस्तक के लिए कागज और छापने की जो व्यवस्था की उसके लिए मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। विशेषकर मेरे काशी पहुँच जाने पर केवल १५-१६ दिन के अत्यल्प काल में पुस्तक छापने की जो व्यवस्था की उसके लिए आपका तथा प्रेस के अन्य सभी कार्यकर्त्ताओं का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ। यदि इसके लिए सभी सज्जन प्रेमपूर्वक विशेष व्यवस्था न करते तो इतना शीघ्र मुद्रण-कार्य न हो सकता था।

नमः परमर्षये नमः परमर्षये

विदुषां वशंवदः—

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान
२४/३१२ रामगंज, अजमेर

युधिष्ठिर मीमांसक

अष्टोत्तरशतनाममालिका

व्याख्या-सहिता

विषय-सूची

सत्यार्थप्रकाश-प्रथमसमुल्लास-व्याख्यानभूता

अष्टोत्तरशतनाममालिका

व्याख्या-सहिता

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।

ऋग्वेद

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि च सर्वाणि यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।

कठ उपनिषत्

ओम्

अष्टोत्तरशतनाममालिका

व्याख्या-सहिता

अष्टोत्तरशतनाममालिका पद्यबद्धा

ओमजः कविराचार्य आदित्यः परमेश्वरः ।
प्रजापतिरनन्तश्च परमात्मा पितामहः ॥ १ ॥

दयालुर्दिव्य आकाशो न्यायकारी बृहस्पतिः ।
ब्रह्मा ब्रह्म महादेवः सविता सत्य ईश्वरः ॥ २ ॥

शुक्रः शुद्धः खमानन्दः शिवः शक्तिः शनैश्चरः ।
शंकरः शेष आत्मा च प्राणः प्राज्ञः सरस्वती ॥ ३ ॥

मातरिश्वा च माता च मनुर्भूमिरुरुक्रमः ।
वायू रुद्रो यमो यज्ञो वरुणः श्रीर्विराड् वसुः ॥ ४ ॥

अग्निरत्ता तथाद्वैतम् अनादिर्निर्गुणः प्रियः ।
सगुणः सत् सुपर्णश्चा- ऽन्तर्यामी बुधस्तथा ॥ ५ ॥

चन्द्रश्चिन्मित्रमाप्तश्च गरुत्मान् सर्वशक्तिमान् ।
स्वयम्भूर्भगवान् होता पुरुषः प्रपितामहः ॥ ६ ॥

अक्षरस्तैजसो बन्धुः देवः देवी निरञ्जनः ।
नित्यो नारायणः सूर्यः विश्वो विश्वम्भरः पिता ॥ ७ ॥

कालः कालाग्निरन्नादः इन्द्रः गणपतिर्गुरुः ।
अन्नं ज्ञानं जलं राहुः कूटस्थः पृथिवी स्वराट्॥ ८ ॥
सर्वपूर्वो जगत्कर्ता मुक्तः लक्ष्मीश्च मंगलम् ।
बुद्धो हिरण्यगर्भोऽयं कुबेरः केतुरर्यमा ॥ ९ ॥
अचिन्त्यः धर्मराजश्च निराकारस्तथैव च ।
विष्णुर्विश्वेश्वरश्चैव कीर्त्यतेऽयं जगत्प्रभुः ॥१०॥

अष्टोत्तरशतनाममालिका-पाठफलम्—

प्रोक्तमेतत् प्रभोर्नाम्नामष्टोत्तरशतं पुनः ।
कीर्तयन् स्मरणं कुर्वन्नेभिध्यायँस्तथैव च ॥ १ ॥
भगवन्तं जगन्मूर्तिं भुक्तिमुक्तिप्रदं प्रभुम् ।
मनः शुद्धिमवाप्नोति लभते च परं पदम् ॥ २ ॥

सत्यार्थप्रकाशान्तर्गत नामों की तुलनात्मक सूची

संख्या	प्रथम संस्करण सं. १९३२	शताब्दी संस्करण अजमेर	शताब्दी संस्करण गोविन्दराम सं० १९८२	बालसत्यार्थ-प्रकाश सं० १९८९	सत्यार्थ-प्रकाश भाष्य	व्याख्येय
			अ			
१		अक्षर	अक्षर	अक्षर	अक्षर	अक्षर
२	अज	अज	अज	अज	अज	अज
३	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि
४	अत्ता	अत्ता	अत्ता	अत्ता	अत्ता	अत्ता
५	अद्वैत	अद्वैत	अद्वैत	अद्वैत	अद्वैत	अद्वैत
६	अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त	अनन्त
७	अनादि	अनादि	अनादि	अनादि	अनादि	अनादि
८	अन्न	अन्न	अन्न	अन्न	अन्न	अन्न
९	अन्नाद	अन्नाद	अन्नाद	अन्नाद	अन्नाद	अन्नाद
१०	अन्तर्यामी	अन्तर्यामी	अन्तर्यामी	अन्तर्यामी	अन्तर्यामी	अन्तर्यामी
११	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा
			आ			
१२	आकाश	आकाश	आकाश	आकाश	आकाश	आकाश
१३		आचार्य	आचार्य	आचार्य	आचार्य	आचार्य
१४	आदित्य	आदित्य	आदित्य	आदित्य	आदित्य	आदित्य
१५	आनन्द	आनन्द	आनन्द	आनन्द	आनन्द	आनन्द
१६	आत्मा	आत्मा	आत्मा		आत्मा	आत्मा
१७		आप्त	आप्त	आप्त	आप्त	आप्त
			इ-ई-उ-ओ			
१८	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र
१९	ईश्वर	ईश्वर	ईश्वर	ईश्वर	ईश्वर	ईश्वर
योग	१६	१९	१९	१८	१९	१९

संख्या	प्र.सं.	श.सं.अज.	श.सं.गो.	बालस.प्र.	स.प्र.भाष्य	व्याख्येय
२०	उरुक्रम	उरुक्रम	उरुक्रम	उरुक्रम	उरुक्रम	उरुक्रम
२१		ओम्	ओम्	ओम्	ओम्	ओम्
			क–ख			
२२		कवि	कवि	कवि	कवि	कवि
२३	काल	काल	काल	काल	काल	काल
२४		कालाग्नि	कालाग्नि	कालाग्नि	कालाग्नि	कालाग्नि
२५	कुबेर	कुबेर	कुबेर	कुबेर	कुबेर	कुबेर
२६	कूटस्थ	कूटस्थ	कूटस्थ	कूटस्थ	कूटस्थ	कूटस्थ
२७	केतु	केतु	केतु	केतु	केतु	केतु
२८		खम्	खम्	खम्	खम्	खम्
			ग–च–ज			
२९		गणपति	गणपति	गणपति	गणपति	गणपति
३०	गणेश	गणेश	गणेश	गणेश	गणेश	
३१		गरुत्मान्	गरुत्मान्	गरुत्मान्	गरुत्मान्	गरुत्मान्
३२		गुरु	गुरु	गुरु	गुरु	गुरु
३३	चन्द्र	चन्द्र	चन्द्र	चन्द्र	चन्द्र	चन्द्र
३४	चित्	चित्	चित्	चित्	चित्	चित्
३५	जल	जल	जल	जल	जल	जल
३६	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान	ज्ञान
			त–द–ध			
३७	तैजस	तैजस	तैजस	तैजस	तैजस	तैजस
३८	दयालु	दयालु	दयालु	दयालु	दयालु	दयालु
३९		दिव्य	दिव्य	दिव्य	दिव्य	दिव्य
४०	देव	देव	देव	देव	देव	देव
४१	देवी	देवी	देवी	देवी	देवी	देवी
४२	धर्मराज	धर्मराज	धर्मराज	धर्मराज	धर्मराज	धर्मराज
			न			
४३	नारायण	नारायण	नारायण	नारायण	नारायण	नारायण
४४	नित्य	नित्य	नित्य	नित्य	नित्य	नित्य
योग	१७	२५	२५	२५	२५	२४

संख्या	प्र. सं.	श.सं.अ.	श.सं.गो.	बाल स.प्र.	स.प्र.भाष्य	व्याख्येय
४५	निरञ्जन	निरञ्जन	निरञ्जन	निरञ्जन	निरञ्जन	निरञ्जन
४६	निराकार	निराकार	निराकार	निराकार	निराकार	निराकार
४७	निर्गुण	निर्गुण	निर्गुण	निर्गुण	निर्गुण	निर्गुण
४८	न्यायकारी	न्यायकारी	न्यायकारी	न्यायकारी	न्यायकारी	न्यायकारी
			प			
४९	परमात्मा	परमात्मा	परमात्मा	परमात्मा	परमात्मा	परमात्मा
५०	परमेश्वर	परमेश्वर	परमेश्वर	परमेश्वर	परमेश्वर	परमेश्वर
५१	पिता	पिता	पिता	पिता	पिता	पिता
५२	पितामह	पितामह	पितामह	पितामह	पितामह	पितामह
५३		पुरुष	पुरुष	पुरुष	पुरुष	पुरुष
५४	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी
५५	प्रपितामह	प्रपितामह	प्रपितामह	प्रपितामह	प्रपितामह	प्रपितामह
५६	प्राज्ञ	प्राज्ञ	प्राज्ञ	प्राज्ञ	प्राज्ञ	प्राज्ञ
५७	प्राण	प्राण	प्राण	प्राण	प्राण	प्राण
५८	प्रिय	प्रिय	प्रिय	प्रिय	प्रिय	प्रिय
			ब			
५९	बन्धु	बन्धु	बन्धु	बन्धु	बन्धु	बन्धु
६०	बुध	बुध	बुध	बुध	बुध	बुध
६१	बुद्ध	बुद्ध	बुद्ध	बुद्ध	बुद्ध	बुद्ध
६२	बृहस्पति	बृहस्पति	बृहस्पति	बृहस्पति	बृहस्पति	बृहस्पति
६३	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म
६४		ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा
			भ-म			
६५	भगवान्	भगवान्	भगवान्	भगवान्	भगवान्	भगवान्
६६		भूमि	भूमि	भूमि	भूमि	भूमि
६७	मनु	मनु	मनु	मनु	मनु	मनु
६८		महादेव	महादेव	महादेव	महादेव	महादेव
६९	माता	माता	माता	माता	माता	माता
७०		मातरिश्वा	मातरिश्वा	मातरिश्वा	मातरिश्वा	मातरिश्वा
योग	२१	२६	२६	२६	२६	२६

संख्या	प्र. सं.	श.सं.अ.	श.सं.गो.	बाल सं.प्र.	स. प्र. भाष्य	व्याख्येय
७२		मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र
७२	मुक्त	मुक्त	मुक्त	मुक्त	मुक्त	मुक्त
७३	मंगल	मंगल	मंगल	मंगल	मंगल	मंगल
				य-र-ल		
७४	यज्ञ	यज्ञ	यज्ञ	यज्ञ	यज्ञ	यज्ञ
७५		यम	यम	यम	यम	यम
७६	राहु	राहु	राहु	राहु	राहु	राहु
७७	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र
७८	लक्ष्मी	लक्ष्मी	लक्ष्मी	लक्ष्मी	लक्ष्मी	लक्ष्मी
				व		
७९	वसु	वसु	वसु	वसु	वसु	वसु
८०	वरुण	वरुण	वरुण	वरुण	वरुण	वरुण
८१	वायु	वायु	वायु	वायु	वायु	वायु
८२	विराट्	विराट्	विराट्	विराट्	विराट्	विराट्
८३	विश्व	विश्व	विश्व	विश्व	विश्व	विश्व
८४	विश्वम्भर	विश्वम्भर	विश्वम्भर	विश्वम्भर	विश्वम्भर	विश्वम्भर
८५	विश्वेश्वर	विश्वेश्वर	विश्वेश्वर	विश्वेश्वर	विश्वेश्वर	विश्वेश्वर
८६	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णु
				श		
८७	शनैश्चर	शनैश्चर	शनैश्चर	शनैश्चर	शनैश्चर	शनैश्चर
८८	शक्ति	शक्ति	शक्ति	शक्ति	शक्ति	शक्ति
८९	शिव	शिव	शिव	शिव	शिव	शिव
९०	शुक्र	शुक्र	शुक्र	शुक्र	शुक्र	शुक्र
९१	शुद्ध	शुद्ध	शुद्ध	शुद्ध	शुद्ध	शुद्ध
९२		शेष	शेष	शेष	शेष	शेष
९३		शङ्कर	शङ्कर	शङ्कर	शङ्कर	शङ्कर
९४		श्री	श्री	श्री	श्री	श्री
				स		
९५	सगुण	सगुण	सगुण	सगुण	सगुण	सगुण
योग	२०	२५	२५	२५	२५	२५

संख्या	प्र. स.	श.सं.अ.	श.सं.गो.	बालसं.प्र.	सं.प्र.भाष्य	व्याख्येयं
९६	सत्	सत्	सत्	सत्	सत्	सत्
९७	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य
९८	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता
९९	सर्वशक्तिमान्	सर्वशक्तिमान्	सर्वशक्तिमान्	सर्वशक्तिमान्	सर्वशक्तिमान्	सर्वशक्तिमान्
१००	सरस्वती	सरस्वती	सरस्वती	सरस्वती	सरस्वती	सरस्वती
१०१		सुपर्ण	सुपर्ण	सुपर्ण	सुपर्ण	सुपर्ण
१०२	सूर्य	सूर्य	सूर्य	सूर्य	सूर्य	सूर्य
१०३		स्वयम्भू	स्वयम्भू	स्वयम्भू	स्वयम्भू	स्वयम्भू
१०४		स्वराट्	स्वराट्	स्वराट्	स्वराट्	स्वराट्

ह

१०५	हिरण्यगर्भ	हिरण्यगर्भ	हिरण्यगर्भ	हिरण्यगर्भ	हिरण्यगर्भ	हिरण्यगर्भ
१०६		होता	होता	होता	होता	होता
योग	७	११	११	११	११	११
पूर्णयोग	८१	१०६	१०६	१०५	१०६	१०५

इस तुलनात्मक सूची से स्पष्ट है कि सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण के केवल ८१ नाम अन्य संस्करणों से मेल खाते हैं। इस संस्करण के शेष १९ नाम वर्तमान संस्करणों में नहीं हैं, वे निम्न है—

१ अचिन्त्य	७ नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव	१२ शिवशंकर
२ अहंकार		१३ श्रोत्र
३ आपः	८ निर्भय	१४ सर्वजगत्कर्ता
४ चक्षुः	९ बुद्धि	१५ सूक्ष्म
५ चित्त	१० मनः	१६ महान्
६ जीव	११ वाणी	१७ अप्रमेय
	१८ अप्रमादी	१९ होम

इस प्रकार ८१ + १९ कुल एक सौ नामों का व्याख्यान इसमें हुआ है। बालसत्यार्थप्रकाश में 'आत्मा' को पृथक् नाम नहीं माना है, अतः वहां संख्या

१०५ रह गई है। व्याख्येय नामों में भी **गणेश** तथा **गणपति** में से केवल गणपति को स्वीकार करने से यह संख्या १०५ रह गई। इसमें **अचिन्त्य, प्रजापति** तथा **सर्वजगत्कर्ता** ये तीन नाम मिलाकर १०८ संख्या पूरी की गई है। इनमें से दो **अचिन्त्य** तथा **सर्वजगत्कर्ता** तो प्रथम संस्करण के अवशिष्ट नामों में से लिये हैं, तथा **प्रजापति** सत्यार्थप्रकाश-भाष्य में प्रदर्शित नामों में से लिया है। सत्यार्थप्रकाश-भाष्य के कुल नामों की संख्या १०६ होती है। उल्लिखित १०६ में **नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, प्रजापति** तथा **सच्चिदानन्द** ये तीन नाम मिलाने से पूर्ण संख्या १०९ हो जाती है। प्रथम सत्यार्थप्रकाश के अवशिष्ट नामों का व्याख्यान भी परिशिष्टरूप में अन्त में कर दिया गया है।

उपोद्घात

अचिन्त्यं व्यापकं नित्यं शिवं परमकारणम् ।
आत्मग्राह्यं परंज्योतिस्तस्मै सद् ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥
यस्य सर्वे समारम्भा जगदुद्धारहेतवः ।
तं वन्दे श्रीदयानन्दं प्रत्नमार्गप्रदर्शकम् ॥ २ ॥
यद्गुत्संगे सुविश्रान्तमुपात्तं ज्ञानवैभवम् ।
कुलमात्रे नमस्तस्यै सुखसौभाग्यहेतवे ॥ ३ ॥
गुरवे मे नमस्तस्मै वेदविज्ञानकेतवे ।
श्रीमते सूर्यदेवाय श्रुतिसागरसेतवे ॥ ४ ॥
राधाविहारिणौ नित्यं जन्मकर्मप्रदौ शुभौ ।
स्वर्गतौ पितरौ वन्दे विद्याज्ञानरूपिणौ ॥ ५ ॥
सत्यार्थे तु निरुक्तं यत् नाम्नां शतमनुत्तमम् ।
क्रियते तस्य व्याख्येयं विद्वज्जनविनोदिनी ॥ ६ ॥

विषय प्रवेश

यह निर्विवाद है कि वैदिक वाङ्मय संसार के सम्पूर्ण वाङ्मय से प्राचीन है और उसमें भी संहितायें प्राचीनतम हैं। ये संहितायें चार हैं—ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व। इन्हीं का दूसरा नाम वेद है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा लोकोपकार के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने भूतल पर ऋषियों द्वारा इनका प्रादुर्भाव किया। मनुष्य की उन्नति के लिये जिन आवश्यक साधनों की आवश्यकता है, उनका संक्षिप्त, किन्तु विशद उल्लेख इनमें मिलता है, ऐसा आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का मत है।[1]

१—यही मत स्वायम्भुव मनु आदि समस्त प्राचीन ऋषि-मुनियों का भी है। सम्पा०

विशेष—जिन टिप्पणियों के आगे 'सम्पा०' शब्द नहीं है, वे ग्रन्थकार की हैं।

स्तोत्रों के उद्गम का मूल—वेदों में अनेक प्रकार की स्तुतियां आती हैं। **अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः'** (निरु. ७. ३.) ऐसा लिखकर यास्क स्वीकार करते हैं कि स्तुति भी वेदका विषय है। और तो और **'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत'** (ऋ. १. २.) इस वचन द्वारा स्वयं वेद भगवान् भी उल्लिखित विषय से सहमति प्रकट कर रहे हैं। ऋक् शब्द की मूल धातु भी **'ऋच स्तुतौ'** है। स्तुतिप्रधान होने से ही इस संहिता का नाम **'ऋक्संहिता'** है। अतएव इस शब्द का ऐसा निर्वचन किया गया है **ऋच्यते स्तूयते तत्तद्गुणमहिम्ना प्रतिपाद्यते परमेश्वरो यत्र, यद्वा ऋच्यन्तेऽभ्युदयनिःश्रेयसाधनान्यनयेति ऋक्'**। इन स्तुतियों में नाम तथा गुण दोनों का ही कीर्तन किया गया है। येही स्तुतियां उतरकालीन स्तोत्रों की मूल हैं। भगवान् के नामों का उपयोग उनकी स्तुति में किया जाता है, तथा इन नामों का पाठ मंगलकारी समझा जाता है। स्तुति के लिये जो पद्यमालिकायें बनाईं जाती हैं, वे स्तोत्र कहाती हैं। इस प्रकार के स्तोत्रों में विष्णुसहस्रनाम, शिवसहस्रनाम आदि अनेक नाममूलक स्तोत्र हैं। अनेक आस्तिक भावना वाले व्यक्ति प्रातः सायं इनका पाठ किया करते हैं। इससे इतना तो लाभ अवश्य है कि वह समय जो व्यर्थ जाता, भगवान् के नामोच्चारण में व्यतीत होता है। नामकीर्तन जहाँ तक वैयक्तिक रूप में रहे वहाँ तक तो अच्छा है, किन्तु जब वह सामूहिक रूप धारण करके प्रदर्शन (Demonstration) की वस्तु बनता है, तब वह केवल ढोंग के और कुछ नहीं रहता।

सत्यार्थप्रकाश के १०८ नाम और उनके उल्लेख का उद्देश्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ में ईश्वर के अनेक नामों का उल्लेख किया है। इनकी संख्या १०० से १०९ तक पहुँचती है। सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ में इनका उल्लेख कुछ माङ्गल्य होने की दृष्टि से नहीं किया गया है, अपितु ये सब शब्द परमेश्वर के भी वाचक हैं यह बताने के लिये। यही उनके लेख से भी प्रमाणित होता है।[1] यही प्राचीन परम्परा है। वेद में भी ऐसे अनेक मन्त्र आते हैं, जिनसे यह व्यक्त होता है कि एक भगवान् को अनेक नामों से पुकारते हैं।[2] यह वैदिक परंपरा बहुत काल तक

---

१. प्रश्न—परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक विराट् आदि क्यों नहीं ?...
उत्तर—हैं, किन्तु परमात्मा के भी हैं। (स. प्र. पृष्ठ २ स्तं. १।)

२. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ. १-१६४-४६॥

अविच्छिन्न रूप से चलती रही, उसके पश्चात् डूबने उतराने लगी, किन्तु सर्वांशमें वह नष्ट नहीं हुई। भगवान् शंकर अपने शारीरक भाष्य में अनेक शब्दों का, जो लौकिक दृष्टि से अन्यार्थ परक प्रतीत होते हैं, सोपपत्तिक ब्रह्मपरक व्याख्यान करते हैं। उनके इस व्याख्यान का आधार बादरायण का ब्रह्मसूत्र है। इसी प्रकार प्राचीन वैष्णव आचार्य भी सब शब्द विष्णुपरक हैं, ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादन करते हैं। ध्यान रहे कि वैष्णव सम्प्रदाय में विष्णु ही परतत्त्व अथवा भगवान् है। उन्होंने बड़े मधुर शब्दों में इसका उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—

रामेन्द्रकृष्णहरिविष्णुशिवादिशब्दाः
ब्रह्मैक्यमेव सकलाः प्रतिपादयन्ति।
कुम्भो घटः कलश इत्यभिशस्यमानो
नाणीयसीमपि भिदां भजते पदार्थः॥
ब्रह्मेति शंकर इतीन्द्र इति स्वराडि—
त्यात्मेति सर्वमिति सर्वचराचरात्मन्।
विश्वेश सर्ववचसामवसानसीमां
त्वां सर्वकारणमुशन्त्यनपायवाचः॥

हारीत स्मृति में वृद्ध हारीतने यही तत्त्व निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

ईश्वरस्तु स एवास्य जगतः प्रभुरव्ययः।
नारायणो वासुदेवो विष्णुर्ब्रह्माऽच्युतो हरिः॥
स्रष्टा धाता विधाता च स एव परमेश्वरः।
हिरण्यगर्भः सविता गुणभृन्निर्गुणोऽव्ययः॥
परमात्मा परं ब्रह्म परं ज्योतिः परात्परः।
इन्द्रः प्रजापतिः सूर्यः शिवो वह्निः सनातनः॥
सर्वात्मकः सर्वसुहृत् सर्वभृत् भूतभावनः।
यमी च भगवान् कृष्णो मुकुन्दोऽनन्त एव च॥
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा ब्रह्मण्यो ब्रह्मणस्पतिः।
स एव पुण्डरीकाक्षः श्रीशो नाथोऽधिपो महान्।
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्रकरपादवान्॥
(बृ. हा. अ. १ श्लो. १०–१४)

आशय यह कि सब जगत् के प्रभु अव्यय भगवान् ही नारायण, वासुदेव, ब्रह्मा, विष्णु, यज्ञ, यज्ञपति आदि नामों से पुकारे जाते हैं। इसी प्रकार आगे भी स्मृतिकार ने लिखा है—

इन्द्राग्निवरुणादीनि नामान्युक्तानि तत्र तु।
ज्ञेयानि विष्णोस्तान्यत्र नान्येषां स्युः कथंचन॥

बृ. हा. १०. ४५-४६

श्रीमद्भागवत में भी एक स्थल पर लिखा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

भाग. ३-२-११

अर्थात् तत्त्ववेत्तागण जिस अद्वयतत्त्व का परिज्ञान किया करते हैं, वही ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् आदि शब्दों से पुकारा जाता है।

एक दूसरे वैष्णव सम्प्रदायानुगामी श्रीवनमालिमिश्र अपने ग्रन्थ श्रुति-सिद्धान्त-संग्रह में कहते हैं—

महायोगादिजाः सर्वे शब्दा वदन्ति माधवम्।
मुख्यतो, ऽन्यपदार्थांश्च व्यवहर्तुममुख्यतः॥

श्रु. सि सं. ५-४४

आशय है कि ये शब्द मुख्यतः भगवान् के वाचक हैं और यथास्थान अन्यार्थ के भी वाचक हैं।[१]

किन्तु यह परम्परा केवल विद्वानों में ही प्रसिद्ध रही। जनसाधारण की दृष्टि में कुछ शब्दों को छोड़कर शेष शब्द या तो लौकिक पदार्थों के वाचक थे या विभिन्न देवताओं के। भारत के दुर्भाग्य से ईश्वर के अनेक नाम, जो कि उसकी विभिन्न शक्तियों अथवा गुणों के द्योतक थे,[२] विभिन्न देवताओं के नामों का रूप धारण कर चुके थे। उन उन देवताओं के उपासक एक दूसरे के चढ़ाव उतराव की व्यवस्था करने में लगे हुए थे, जिससे धार्मिक क्षेत्र में एक विशेष प्रकार का संग्राम चल रहा था। ऋषि ने जिस समय भारत में जन्म लिया उस समय भारत का धार्मिक क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण विचारवान् व्यक्तियों के हाथ में होने से अत्यन्त शोचनीय हो रहा था। ऋषि ने इस दृश्य को देखा और

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी यही मत है। समस्त प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मज्ञान है। अतः वेद में इन शब्दों का मुख्य अर्थ ब्रह्म ही है। आधिदैविक प्रक्रिया में ये ही शब्द ब्रह्माण्ड के विभिन्न पदार्थों के वाचक हैं। सम्पा०।

२. सृष्टिस्थित्यन्तकरिणीं ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्
स सज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥ विष्णु पुराण १-२-६६

उनके कोमल तथा प्रतिभावान् हृदय में भारत की अवनति के मूलकारण इस अनैक्य को दूर करने का विचार उत्पन्न हुआ। इस अनैक्य को दूर करने के दो ही उपाय थे—

१. 'सब देवताओं को पृथक् पृथक् मानते हुए भी उनका मेल करा दिया जाय अर्थात् यह दिखा दिया जाय कि सब देवता अपने अपने स्थान पर मुख्य हैं, शेष उस समय गौण हैं अर्थात् उस मुख्य के अंगभूत हैं।'

इस उपाय का अवलम्बन महाभारत के प्रतिसंस्कर्ता सौति तथा तुलसी रामायण के रचयिता तुलसीदास कर चुके थे, किन्तु उनका यह प्रयास विशेष फलीभूत नहीं हुआ था। साथ ही ऋषि वेदों में बहुदेवतावाद मानने को तैयार न थे। अतएव वह इस उपाय का अवलम्बन नहीं कर सकते थे।

२. 'ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई उपास्य देवता नहीं है। विभिन्न शब्द उसी के वाचक हैं, उनसे उसके विभिन्न गुणों और शक्तियों की प्रतीति होती हैं।' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन।

ऋषिने इसी पुरातन एवं प्रामाणिक मार्ग का अवलम्बन किया और यह प्रमाणित कर दिखाया कि सभी शब्द भगवान् के वाचक हैं। हां, प्रकरणवशात् उनके दूसरे अर्थ भी हो सकते हैं।[1]

नामों का वर्गीकरण—यह ऊपर बताया जा चुका है कि ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में जिन नामों का उल्लेख किया है, उनकी संख्या १०० से १०९ तक पहुँचती है। हमने प्रारम्भ में एक ऐसी तालिका दी है, जिसमें विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित और प्रथम संस्करण को मिलाकर तीन संस्करण तथा दो बालसत्यार्थप्रकाश और सत्यार्थप्रकाशभाष्य; इस प्रकार कुल मिलाकर पांच विभिन्न प्रामाणिक संस्करणों के उक्त प्रकरण का तुलनात्मक आलोचन कर १०८ नाम ऐसे चुने हैं, जिनका इन सबमें अथवा अधिक में समावेश है। इन्हीं १०८ नामों का व्याख्यान करना इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है। सत्यार्थप्रकाश के इस प्रकरण को पढ़कर इस नाम समुदाय का वर्गीकरण निम्नरूप में किया जा सकता है—

---

१. अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण विशेषण नियामक हैं। स० प्र० पृ० ४ स्तं० १।

१. मुख्यनाम—ओम्

२. ओंकार से गृहीत नाम—९

अकार से–विराट्, अग्नि, विश्व।
उकार से–हिरण्यगर्भ, वायु, तैजस।
मकार से–ईश्वर, आदित्य, प्राज्ञ।

३. प्रथम समुल्लास के प्रारम्भ में पठित मन्त्रान्तर्गत नाम—८

मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र
बृहस्पति, विष्णु, उरुक्रम, ब्रह्म।

४. अन्य मन्त्राद्यन्तर्गत नाम—१७

खम्, पुरुष, मनु, प्रजापति, प्राण,
ब्रह्मा, रुद्र, शिव, अक्षर, स्वराट्,
कालाग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम,
मातरिश्वा, भूमि।

५. अवशिष्ट नाम—७३

इन ७३ नामों का विभाग इस प्रकार है—

(क) भूतवाचक—३—पृथिवी, आकाश, जल।

(ख) नवग्रहों में से—८—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु।

(ग) उपनिषदन्तर्गत ब्रह्मवाचक शब्द—१९—सत्, चित्, आनन्द, सत्य, ज्ञान, अनन्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अद्वैत, अन्न, अत्ता, अन्नाद, कूटस्थ, स्वयम्भू, आत्मा, कवि, सविता।

(घ) गुणवाचक शब्द—१८

१. विशेषणवाचक शब्द—१३—निराकार, निरञ्जन, अनादि, दयालु, निर्गुण, सगुण, प्रिय, आप्त, अचिन्त्य, न्यायकारी, सर्वशक्तिमान्, अन्तर्यामी, जगत्कर्ता।

२. विशेषण वाचक, किन्तु संज्ञारूप में प्रयुक्त—५—परमात्मा, परमेश्वर, विश्वेश्वर, विश्वम्भर, भगवान्।

(ङ) **तथाकथित साम्प्रदायिक ईश्वर वाचक शब्द—७—** नारायण, शंकर, महादेव, देवी, शक्ति, लक्ष्मी, श्री।

(च) **तथाकथित पौराणिक देवता विशेष वाचक शब्द—९—** देव, कुबेर, गणपति, शेष, अज, वसु, धर्मराज, काल, सरस्वती।

(छ) **सम्बन्धिवाचक शब्द—७—**पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, आचार्य, गुरु, बन्धु।

(ज) **यज्ञसम्बन्धी शब्द—२—**यज्ञ, होता।

व्याख्यान का शब्दार्थ—व्याख्यान कहते हैं विशिष्ट आख्यान को। प्रकृत में आख्यान की विशेषता यही है कि व्याख्येय शब्द के अर्थ को दृष्टि में रखकर तदनुकूल प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना कर उसका निर्वचन करना और इस प्रकार व्याकरण द्वारा शब्द का साधुत्व प्रतिपादन करना और इसी प्रकार उसका महत्त्व दिखाना।

शब्दरचना के विषय में दो मत—यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि शब्दतत्त्ववित् महानुभावों की दृष्टि से शब्दरचना के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं—

१. सब शब्द व्युत्पन्न हैं। प्रकृति-प्रत्यय के संयोग से उनकी रचना हुई है। उनके मूल में एक न एक धातु निहित है।

२. कुछ अव्युत्पन्न प्रातिपदिक भी हैं, जिनकी रचना में प्रकृति-प्रत्यय का हाथ नहीं है। निरुक्तकार ने **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च, न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके'** (निरु १.१२) लिखकर इन दोनों चिरन्तन प्रचलित तथा मान्य सम्प्रदायों (मतों) का उल्लेख किया है।

सब शब्द आख्यातज नहीं है, इस मत के माननेवाले वैयाकरणों में पाणिनि भी हैं। इसलिये उन्होंने अनेक शब्दों को निपातित (निपातन से सिद्ध) किया है अथवा 'यथोपदिष्ट' माना है, अन्यथा उनके पास प्रकृति प्रत्ययों की क्या कमी थी। निपातन शब्द का अर्थ है **'निपतत्यर्थ-विशेषे'**। आशय यह कि अमुक शब्द विशेष का अमुक अर्थ में व्यवहार तो होता है, किन्तु इसके समर्थक प्रकृति प्रत्यय विभाग स्पष्ट परिज्ञात नहीं होते, जिससे इनकी रचना मानी जाय। इसी का नाम है निपातन से सिद्ध होना। यथोपदिष्ट का भी यही आशय है कि जो जैसे बोले जाते हैं वे वैसे ही साधु हैं। उनके साधुत्व में व्यवहार ही प्रमाण है इसलिये

पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा नहीं, क्योंकि उनका साधुत्व प्रयोग बल से सिद्ध ही है। यद्यपि पिछले बुद्धिसागर वृतिकारों ने आचार्य पाणिनि के आशय के विरुद्ध इनका भी संबन्ध बलात् प्रकृति प्रत्यय से कर दिया है, परन्तु यह दूसरी बात है। इसीलिये उपलब्ध उणादिकोष भी उन शाकटायन कृत नहीं माना जा सकता,[१] अन्यथा उसमें निपातन के द्वारा शब्दों की सिद्धि न करके प्रकृति प्रत्ययों से ही सब शब्दों का निर्माण होता है।

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि जो सब शब्दों को आख्यातज मानते हैं. उन्होंने शब्दों के साथ बड़ा अत्याचार किया है। जिस शब्द का जिस अर्थ में व्यवहार होता है उससे अत्यन्त विपरीत हास्यास्पद प्रकृति-प्रत्ययों की कल्पना की है। इसी दृष्टि से **'अथानन्वितेऽर्थे ऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायनः'** (निरु. १-१३) लिखकर इनपर आक्षेप किया गया है। इसका आशय यही है कि शाकटायन ने सब शब्दों को आख्यातज बनाने की धुन में अत्यन्त असंगत कल्पनायें कर डाली हैं। इसका जो समाधान **'सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा'** (निरु. १.१४) कहकर किया गया है, वह कुछ सन्तोषजनक नहीं। निरुक्तकार का **'अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्'** यह लेख उक्त धींगा धींगी का समर्थन कर रहा है। साथ ही निरुक्तकार के अनेक निर्वचन अत्यन्त असंगत हैं। उदाहरण के लिये संख्या वाचक तथा छन्दोवाचक शब्दों के निर्वचन उपस्थित किये जा सकते हैं। उणादिकार के कौशल को तो पूजार्थक 'यक्ष' धातु से 'यक्ष्मा' शब्द का निर्वचन करना ही प्रमाणित कर रहा है। मानो यक्ष्मा ऐसा अच्छा रोग है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि हमारे घर में आ विराजे। वस्तुतः यक्ष्मा शब्द का निर्वचन है **'क्षयं मातीति = निर्मिमीते इति, यक्ष्मा 'वर्णविपर्ययात्'** अर्थात् जो रोग क्षय का निर्माण करता है उसे कहते हैं 'यक्ष्मा'।[२]

१—वर्तमान पञ्चपादी उणादि आचार्य शाकायन की कृति नहीं है। इसकी सिद्धि में हमने अपने "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" के दूसरे भाग में 'उणादि-सूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता' अध्याय में अनेक हेतु उपस्थित किए हैं। सम्पा०।

२. ग्रन्थकार ने इस सन्दर्भ के आरम्भ में 'कुछ व्यक्तियों का कहना है' शब्दों का प्रयोग किया है। इसलिए यह उनका अपना मत नहीं है।
हमारे मत में संस्कृत भाषा के मूल शब्द तीन प्रकार के हैं—

इस प्रकार का आक्षेप करने वालों ने इन मतों को समझने में एक हलकी सी भूल की है और इसका कारण है, इन मतों के विकास पर दृष्टिपात न करना। प्रारम्भ में 'सब शब्द आख्यातज हैं' इसका अभिप्राय यही रहा कि सब शब्दों का सम्बन्ध धातु तथा प्रत्ययों से है। उणादि को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'अमुक शब्द अमुक धातु से अमुक प्रत्यय करके बनता है' यह बता देने के पश्चात् उसके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है, क्योंकि शब्द साधुत्व सम्पादन करना ही व्याकरण का प्रयोजन है। इसीलिये व्याकरण को पदशास्त्र कहते हैं। उस समय इसी (प्रकृति और प्रत्यय के सम्बन्ध) का नाम योग था और इस योग से बने शब्द यौगिक कहाते थे। तब शब्द रचना में अर्थ का कोई मूल्य न था, क्योंकि शब्द का अर्थ व्यवहार, प्रयोग या प्रवृत्तिनिमित्त पर आश्रित था और अब भी है न कि व्युत्पत्तिनिमित्त पर। अत-एव **'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तम्'**[1] यह

जातिशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्द। यदृच्छा शब्द संस्कृत के मूल शब्द नहीं हैं, वे प्रयोक्ता की यदृच्छा से उत्पन्न हैं। ये शब्द मूलतः रूढ़ हैं। इन्ही में धातु प्रत्यय का विभाग न होने से ये अव्युत्पन्न माने गए हैं। संस्कृत भाषा के मूल भूत तीनों प्रकार के शब्द यौगिक हैं। इस पक्ष की सिद्धि हमने 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' के द्वितीय भाग में "शब्दों के धातुजत्व और धातु के स्वरूप पर विचार" अध्याय में विस्तार से की है।

इसी प्रकार वैयाकरणों और नैरुक्तों के असंबद्ध प्रतीयमान निर्वचनों का वास्तविक स्वरूप हमने "वैदिकछन्दोमीमांसा" के द्वितीय अध्याय में छन्दःपद के निर्वचन के प्रसंग से दर्शाया है। जिन पाठकों को इन दोनों विषयों के परिज्ञान में रुचि हो वे हमारे दोनों ग्रन्थों के उक्त प्रकरणों का अवश्य अवलोकन करें। सम्पा०।

१. अर्वाचीनों का यह सिद्धान्त संस्कृत भाषा में प्रयुज्यमान यदृच्छा शब्द रूप अव्युत्पन्न शब्दों की व्युत्पत्तियों को दृष्टि से कथंचित् युक्त हो सकता है। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार तो इसे चिन्त्य ही कहा जाएगा। संस्कृत भाषा में मूलतः रूढ़ शब्दों के न होने पर भी मनुष्यों की बुद्धिह्रास के कारण यौगिक शब्द भी रूढ़ बनते गए और उत्तरवर्ती वैयाकरण काल्पनिक प्रकृति प्रत्यय विभाग द्वारा उनके साधुत्व का निर्देशन कराने लगे। इसी भ्रान्ति से उक्त सिद्धान्त अर्वाचीन विद्वानों द्वारा स्वीकार किया गया है। द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग २, अध्याय १९। सम्पा०

सिद्धान्त स्वीकृत हुआ। निरुक्तकार का **'अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्ण-सामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्'** (निरु. २.१) यह वचन इसी आशय से कहा गया है। इसीलिये उन प्राचीन वैयाकरणों ने अर्थ पर दृष्टि न रखकर केवल रचना सादृश्य से शब्दों को किन्हीं भी प्रकृति प्रत्ययों से बना लेना समुचित समझा। उस अवस्था में 'यक्ष पूजायाम्' से यक्ष्मा बनाना कुछ अनुचित न था और नाहीं दोषावह।

अग्रिम विचारकों ने यह सोचा कि जब शब्दों को किसी न किसी प्रकृति प्रत्यय से बनाना ही है तब तो यही श्रेयस्कर है कि ऐसे प्रकृति प्रत्यय ढूंढ़े जाँय जो स्वरूप तथा अर्थ दोनों की दृष्टि से शब्द से मिलते हों और यदि न मिलते हों तो परिवर्तन करके उन्हें इस प्रकार का बना लिया जाय। इसी अवस्था में वर्णविपर्यय आदिकी कल्पना हुई। तब यौगिक का अर्थ हुआ 'ऐसे शब्द जिनका प्रयोग जिस अर्थ में होता है वह अर्थ उनके घटक प्रकृति प्रत्यय से भी निकलता हो'। इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त और व्युत्पत्तिनिमित्त दोनों मिल गये या मिला दिये गये। येही शब्द जब उक्त वाच्य को लेकर किसी पदार्थ विशेष से संबद्ध हो जाते हैं तब योगरूढ़ कहाते हैं। फिर भी कुछ शब्द ऐसे बच जाते हैं जिनका सम्बन्ध किसी प्रकृति प्रत्यय से नहीं हो सकता। अत एव वे योगबाह्य हैं, जैसे **पृषोदर, बलाहक, कपित्थ** आदि। इनके अतिरिक्त कुछ संज्ञावाचक शब्द भी ऐसे हैं या जिनका सम्बन्ध किसी प्रकृति प्रत्यय से न हो सकता था अथवा सम्बन्ध होने पर भी प्रकृति प्रत्यय द्वारा निष्पन्न अर्थ से शब्द के प्रयुक्त अर्थ का कोई सम्बन्ध न बन सकता था, ऐसे शब्द रूढ़ कहाये। इस प्रकार के शब्दों के साथ निर्वचन तथा प्रत्ययान्वेषण में इस **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** सिद्धान्त माननेवालों ने वास्तव में बड़ा अत्याचार किया है। इनके लिये प्रकृति प्रत्यय की कल्पना में बड़ी अटकल से काम लिया गया है। अत्यन्त असम्बद्ध कल्पनाओं से इन्हें सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, जैसा नहीं करना चाहिये था। उत्तरकाल के वैयाकरणों ने तो अपने व्याकरण ज्ञान का अत्यन्त दुरुपयोग किया है। अत्यन्त भिन्न भाषा के शब्दों को भी निर्वचन द्वारा बलात् संस्कृत का चोला पहना दिया है। उदाहरण के लिये 'आदाव' (आदाब अर्ज) शब्द अर्बी का है। इसकी रचना इस प्रकार की है **'दावः = उपतापः = असत्कारः स नास्त्यस्मिन्नित्यदावः और आ समन्तात् अदावः आदावः = सम्यक् सत्कारः सत्कार-सूचकः शब्दो वा** ऐसे ही मीं, मियाँ, मलिक शब्दों को डीं, डियाम् तथा डलिक प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है। इसी का नाम है शब्दों के साथ

अत्याचार। यद्यपि यह सिद्धान्त ध्रुव सत्य है कि 'संस्कृत सम्पूर्ण इतर भाषाओं की जननी है' तथापि इसको प्रमाणित करने का यह प्रकार नहीं है, अपितु उनके परिवर्तनों का क्रमिक विकास[1] दिखाकर उनको सिद्ध करना, यह प्रकार है। इसलिये यथार्थ वस्तुस्थिति दोनों से भिन्न है न सब शब्द आख्यातज हीं हैं और न सब अव्युत्पन्न, अपितु कुछ शब्द व्युत्पन्न (आख्यातज) हैं तथा कुछ अव्युत्पन्न।

अर्थ तथा निर्वचन का सम्बन्ध—निर्वचन तथा अर्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह भी विचारणीय है। इस सम्बन्ध के विषय में दो मत हैं—

१. निर्वचन द्वारा शब्द के अर्थ को बनाना।

२. अर्थानुकूल निर्वचन करना।

दोनों में भेद यह है कि प्रथम पक्ष में हम अर्थ की कल्पना करते हैं और द्वितीय पक्ष में उपलब्ध परम्परा अथवा व्यवहार प्राप्त अर्थ का निर्वचन द्वारा समर्थन करते हैं। ऋषि दयानन्द द्वितीय पक्ष के ही समर्थक प्रतीत होते हैं,[2] यद्यपि प्रथम पक्ष भी उनके मत्थे मढ़ा जाता है। वे प्रथम न्यायानुमोदित शास्त्रप्रसिद्ध व्यवहारप्राप्त यह सिद्धान्त मान लेते हैं कि सब शब्द भगवान् के वाचक हैं, अनन्तर अर्थानुसारी निर्वचन करते हैं, उसी प्रकार के प्रकृति प्रत्यय ढूँढ़ निकालते हैं। उदाहरण के लिये प्राण शब्द को लीजिये। यदि इस शब्द का निर्वचन 'प्राणितीति प्राणः' अर्थात् भगवान् सांस लेने से प्राण कहाते हैं, ऐसा किया जाय तो यह भूतार्थ नहीं होगा। भगवान् सांस नहीं लेते। इसलिये इस शब्द का व्यवहार मुख्यार्थ में हो ही नहीं सकता, तब अवश्य यह व्यवहार औपचारिक है। इसलिये महाराज ने निर्वचन का स्वरूप रक्खा **'सर्वेषां प्राणस्य=जीवनस्य मूलं प्राणः। आशय यह कि प्राणनकारणत्वात् प्राणं ब्रह्म, यथा आयुष्कारणत्वात् आयुर्घृतम्'**। उपनिषत् भी कहती है—**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः'** (केन० १–२) अर्थात् भगवान् श्रोत्र को श्रवण शक्ति देते हैं, मनको मनन शक्ति देते हैं, वाणी को उच्चारण शक्ति देते हैं तथा प्राण को

---

१. भाषा में उत्तरोत्तर परिवर्तनों द्वारा विकास नहीं होता, अपितु विकार होता है। उन उत्तरोत्तर हुए विकारों का निर्देशन कराना ही यहाँ अभिप्रेत है। सम्पा०

२. यास्क आदि नैरुक्तों का भी यही सिद्धान्त है—अर्थनित्यः परीक्षेत। नि० २।१। सम्पा०

प्राणन शक्ति देते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राण शब्द का ईश्वर अर्थ में जो व्यवहार है उसी को दृष्टि में रखकर उक्त शब्द लिखे गये हैं। अन्यथा इस द्रविड़ प्राणायम की क्या आवश्यकता थी। संक्षेप में आशय यह है कि ऋषि ने अर्थानुसारी निर्वचन किये हैं, न कि निर्वचनों से अर्थ निकाल कर उलटी गंगा बहाई है। इसीलिये उन्होंने अपने अर्थ की पुष्टि के लिये स्थल-स्थल पर ब्राह्मण निरुक्त आदि के उन वचनों को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है, जिनमें उन-उन शब्दों के वे-वे अर्थ किये गये हैं। इसके अतिरिक्त यास्क ने भी निर्वचन प्रकरण में **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** यह लिखकर उल्लिखित तत्त्व का ही समर्थन किया है। इसीलिये पति तथा पिता शब्द एक ही रक्षणार्थक 'पा' धातु से एक ही कर्ता अर्थ में 'डति' तथा 'तृच्' प्रत्यय करके निष्पन्न होने पर भी परस्पर पर्यायवाची अथवा एकार्थ के वाचक लोक या वेद में कहीं भी नहीं माने जाते।

व्याख्यान का प्रकार—अभी पीछे व्याख्यान का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है। इसी व्याख्यान को साङ्गोपाङ्ग परिपूर्ण बनाने के लिये इन्हीं शब्दों के विभिन्न दृष्टि से विभिन्न लेखकों के विभिन्न वचनों का प्रदर्शन कराया गया है, जो ज्ञानवर्धक होने के साथ साथ मनोरञ्जक भी होगा। नामों के व्याख्यान का क्रम इस प्रकार रक्खा गया है—

(क) १. सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करणान्तर्गत निर्वचनों का उल्लेख।
 २. सत्यार्थप्रकाश के अन्य संस्करणान्तर्गत निर्वचनों का उल्लेख।
 ३. श्री महाराज के अन्यान्य ग्रन्थान्तर्गत निर्वचनों का उल्लेख। तथा इनपर यथायोग्य शंका समाधान तथा व्याख्यान आदि।

(ख) १. वैदिक साहित्य जैसे ब्राह्मण, उपनिषत् आदि में उपलब्ध निर्वचनों का उल्लेख।
 २. विभिन्न वेदभाष्यान्तर्गत निर्वचनों का उल्लेख।

(ग) १. निघण्टु-व्याख्या (देवराज यज्वा) में उपलब्ध निर्वचनों का परिदर्शन।
 २. प्रकृत में संगतिप्रदर्शन।

(घ) विष्णुसहस्रनाम की प्रमुख व्याख्याओं में उपलब्ध निर्वचनों का उल्लेख तथा उनकी दृष्टि से स्पष्टीकरण और प्रकृत में संगति प्रदर्शन अर्थात् अपने साथ समन्वय अथवा असमन्वयका निर्देश।

(ङ) अन्यान्यग्रन्थान्तर्गत अथवा संभावित निर्वचनों का उल्लेख। शब्द के ईश्वरपरक व्याख्यान को प्रमाणित करने के लिये वेद शास्त्र आदि के वचनों का उपोद्बलक रूप से यथासम्भव उपस्थापन।

शैली का दिग्दर्शन—नामों की व्याख्या करने से पूर्व उस शैली का दिग्दर्शन भी करा देना चाहिये। इसके लिये सर्वप्रथम 'नाम' शब्द का ही निर्वचन कर उसका स्पष्टीकरण किया जाता है। नाम शब्द के मूल में दो धातु हैं—एक **'णम् प्रह्वत्वे शब्दे च'** और दूसरी **'म्ना अभ्यासे'**। 'नम' का अर्थ है नम्रता प्रकट करना तथा पुकारना। तब निर्वचन होगा **'नम्यते शब्दा-य्यते अनेनेति नाम'** अर्थात् जिसके द्वारा हम किसी को पुकारते हैं, उसे नाम कहते हैं। म्ना का अर्थ है अभ्यास। अभ्यास कहते हैं पौनःपुन्य को। इसका अर्थ है किसी क्रियादिका बार बार होना या करना। तब निर्वचन होगा **'म्नायतेऽभ्यस्यतेऽयत्तदिति नाम'** अर्थात् जिसका बार बार प्रयोग किया जाता है उसे नाम कहते हैं। पुकारने आदि में संज्ञा शब्दों का पुनः पुनः प्रयोग किया ही जाता है। निरुक्तकार की दृष्टि से संज्ञा शब्दों का प्रवृति-निमित्त है **'व्यवहारलाघव,'** जैसाकि वे लिखते हैं—**'अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके'** (निरु. १.२)।

इस प्रकार इस विषय में एक संक्षिप्त अनुसंधानात्मक विवेचन पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत किया गया है। इससे इस विषय में समुचित ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। हो सकता है कि कुछ योग्य विद्वान् मेरे इन सम्पूर्ण विचारों से सहमत न हों, तथापि इससे उनके विचार के लिये भूमिका अवश्य उपस्थित होगी, इतना सुनिश्चित है।

मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार
ऋग्वेद से लेकर पूर्व मीमांसा पर्यन्त
अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के
लगभग [प्रमाण] मानता हूँ ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती
[भ्रान्ति-निवारण में]

प्रथम प्रकरण

ओम्

जिस क्रम से वर्गीकरण किया गया है उसी क्रम से भगवान् के नामों का व्याख्यान किया जाता है। इनमें सर्व प्रथम 'ओम्' नाम आता है। यह भगवान् के सब नामों में मुख्य नाम है, इस सिद्धान्त से लगभग सभी सहमत हैं। इस शब्द के विषय में भी चिरकाल से दो विचार-धारायें चली आती हैं। एक में इसे अव्युत्पन्न प्रातिपादिक एकाक्षर रूप माना गया है और दूसरी में व्युत्पन्न प्रातिपदिक। दूसरी धारा के फिर दो रूप हैं। इनमें से एक में इसे भिन्न-भिन्न अक्षरों का समुदाय माना है। इन अक्षरों का पृथक् पृथक् अर्थ है और तीनों अक्षरों से मिलकर 'ओम्' बनता है। दूसरी में 'ओम्' प्रकृति प्रत्यय द्वारा निष्पन्न एक शब्द है। इस प्रकार समूहावलम्ब से इस विषय में तीन विचार हमारे सन्मुख आते हैं—

१—ओम् अव्युत्पन्न प्रातिपदिक एकाक्षररूप।

२—तीन पृथक् पृथक् अर्थोंवाले अक्षरों से निष्पन्न।

३—प्रकृति-प्रत्यय द्वारा निष्पन्न।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अन्तिम दो विचारधाराओं को अपनाया है। वे लिखते हैं—

१. (क) यह जो ॐकार सो बहुत उत्तम परमेश्वर का नाम है, क्योंकि तीन जे 'अ' 'उ' और 'म्' अक्षर इसमें हैं वे सब मिल के एक ओम् अक्षर हुआ है। इस एक अक्षर में बहुत परमेश्वर के नाम आते हैं। (स० प्र० प्रथम सं० पृ० १)

(ख) ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि इसमें जो अ-उ-म् तीन अक्षर मिलकर एक समुदाय है। इस नाम से ईश्वर के बहुत से नाम आते हैं (स०प्र० पृष्ठ २ स्तं. १)

तब वे दूसरे विचार का समर्थन करते हैं। और जब वे 'अवतीत्योम् (स० प्र० पृ० ३ स्तं० २) निर्वचन करते हैं, तब वे तीसरे विचार का समर्थन करते हैं।

इस प्रकार श्रीमहाराज ने इसे व्युत्पन्न प्रातिपदिक माना है, अव्युत्पन्न नहीं। ध्यान रहे कि महाराज **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** के समर्थक हैं। यह विचार उनकी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा वेदभाष्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है

१—अव्युत्पन्न प्रातिपदिक

'ओम्' को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानने वाली धारा का समर्थन ब्राह्मण करता हैं। गोपथ ब्राह्मण के पूर्व भाग के प्रथम प्रपाठक के २४ वें खण्ड से लेकर ओंकार का व्याख्यान किया गया है। इस खण्ड में ओंकार विषयक **'षट्त्रिंशत् प्रश्नाः'** ३६ प्रश्न किये हैं। इन प्रश्नों के उत्तरों द्वारा ओंकार का व्याख्यान किया गया है। इस स्थल को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस ब्राह्मण के प्रवचन काल में ओंकार विषयक दो धारायें प्रचलित रही हैं। एक में ओंकर को निपात और अव्यय मानकर एकाक्षर रूप अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना जाता रहा है और दूसरी में प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न शब्द। ब्राह्मणकार लिखते हैं—

स्वरितोदात्त एकाक्षर ओंकार ऋग्वेदे, त्रैस्वर्योदात्त एकाक्षर ओंकारो यजुर्वेदे, दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षर ओंकारः सामवेदे, ह्रस्वोदात्त एकाक्षर ओंकारोऽथर्ववेदे (गो. पू. १.२५)।

आशय यह कि एकाक्षर ओंकार ऋग्वेद में स्वरितोदात्त, यजुर्वेद में त्रैस्वर्योदात्त, सामवेद में दीर्घप्लुतोदात्त और अथर्व में ह्रस्वोदात्त माना गया है।

आगे चलकर फिर ब्राह्मणकार लिखते हैं—

निपातेषु चैनं वैयाकरणाः समामनन्ति उदात्तं तदव्ययीभूतम्।

अर्थात् वैयाकरण इसको निपात मानकर उदात्त तथा अव्यय मानते हैं।

इस व्याख्या में ओंकार एक ही अक्षर है, तीन वर्णों से मिलकर बना हुआ नहीं। इसीलिये उपनिषदादि में ओंकार को एकाक्षर बताने वाले अनेक लेख उपलब्ध होते हैं। यथा—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। छा. १.४.१।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। मांडूक्य १।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। गीता ८.१३.।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म गिरामस्म्येकमक्षरम्। गीता।

इन सबमें ओंकार को एकाक्षर ही माना है। ऐसा मानने पर ही **'वर्णात् कारः'** [अ० ३।३।१०८] वार्तिक से 'कार' प्रत्यय होकर ओंकार बन

सकता है, जैसे अकार, इकार, उकार, आदि, अन्यथा नहीं। यह एकाक्षर ओंकार ईश्वर का वाचक वा उसकी प्रतीक है। योगसूत्र भी कहता है **'तस्य वाचकः प्रणवः'** (यो १.२५) अर्थात् ओंकार उस ईश्वर का वाचक है।

२—व्युत्पन्न प्रतिपादिक, तीन अक्षरों का योग

अभी ऊपर बताया जा चुका है कि व्युत्पन्न प्रातिपदिक मानने वालों में भी दो विचार धारायें हैं। इनमें से एक में ओम् को 'अ-उ-म्' इन तीन अक्षरों से मिलकर बना हुआ माना गया है, किन्तु इस प्रकार बना हुआ समुदित शब्द 'ओम्' किसी एक पदार्थ का वाचक भी है वा नहीं? और वह वाच्य ईश्वर ही है वा कुछ और, ये प्रश्न अत्यन्त विचारणीय हैं।

यदि अ, उ और म् वर्ण पृथक्-पृथक् अर्थों के वाचक हैं और यदि ऐसी कोई विधि नहीं कि जो उनको एक अर्थ-व्यक्ति में उपनीत कर सके, तो किसी भी दशा में ओम् एकार्थ का वाचक नहीं हो सकता। 'शशकुश पलाश' आदि शब्द किसी एक पदार्थ का बोध नहीं कराते।

अकार उकार मकार से मिलकर ओम् बना है, यह विचार ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। इस ब्राह्मण की पाँचवीं पञ्चिका के पाँचवें अध्याय में लिखा है—

प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्स्यामिति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इमान् लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम्। तान् लोकानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त अग्निरेव पृथिव्या अजायत वायुरन्तरिक्षाद् आदित्यो दिवः। तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्। तान् वेदानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्। तानि शुक्राण्यभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त अकार उकारो मकार इति। तानेकदा समभरत् तदोमिति। तस्मात् ओमिति प्रणौति, ओमिति वै स्वर्गो लोकः, ओमित्यसौ योऽसौ तपति।

आशय यह कि प्रजापति ने प्रथम पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु उत्पन्न किये, फिर इनसे अग्नि, वायु और आदित्य, इनसे ऋक् यजुः और साम, इनसे

भूः, भुवः और स्वः, इनसे तीन वर्ण अकार उकार और मकार। तीनों को मिलाने से 'ओम्' बन गया। इसीलिये ओम् कहकर स्तुति का आरंभ किया जाता है, ओम् स्वर्गलोक का वाचक है और यह प्रतपन करने वाला आदित्य भी ओम् पद से कहा जाता है।

ब्राह्मण के इस अंश का अध्ययन करने से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि यह 'ओम्' तो ईश्वर का वाचक नहीं है।

मात्रा प्रणाली और अकार उकार मकार प्रणाली

१—एक दूसरे प्रकार का अकार, उकार, मकार वाला व्याख्यान माण्डूक्योपनिषत् में आता है। उपनिषत्कार **'अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्'** वचन से आत्मा को चतुष्पात् (चार पैर वाला) कहकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय नामक पदों का उल्लेख करके मात्रा निर्देश की दृष्टि से अकार, उकार, मकार का निर्देश कर फिर तुरीय का निर्देश करते हैं। यह अकार, उकार, मकार वाला व्याख्यान भी ईश्वरपरक नहीं हो सकता। उपनिषत्कार स्वयं कहते हैं **'सोऽयमात्मा चतुष्पात्'** अर्थात् यह आत्मा चतुष्पात् है। इस प्रकार ये पाद वास्तव में आत्मा (=जीवात्मा) के हैं। अत एव उसके साथ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का संबंध भी घट जाता है। नित्य निरवधिक निरतिशय ब्रह्म में अवस्था सम्बन्ध कहाँ? इसी भाव का अनुवाद **दशश्लोकी** के आठवें श्लोक में किया गया है। श्लोक यह है—

> **न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिः**
> **न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा।**
> **अविद्यात्मकत्वात् त्रयाणाम्।**

वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् श्री मधुसूदन सरस्वती ने इसकी व्याख्या करते हुए सिद्धान्तबिन्दु में इनको स्पष्ट ही जीव की अवस्था स्वीकार किया है। इसीलिये श्री महाराज ने भी **प्राज्ञ, विश्व, तैजस** आदि शब्दों का पृथक् ईश्वर परक व्याख्यान किया है। इसी प्रकार इनका सम्बन्ध भी जीव से ही है, ऐसा भी श्रीमहाराज मानते हैं। वे लिखते **हैं—तीन अवस्था एक जाग्रत्, दूसरी स्वप्न और तीसरी सुषुप्ति अवस्था कहाती है** (स. प्र. पृष्ठ १५८ स्तं. १)। ध्यान रहे कि यह विषय जीव के ही प्रकरण में ही लिखा गया है। इसी प्रकरण में महाराज ने एक चौथा तुरीय शरीर भी माना है, जिससे जीव मुक्ति के सुख का उपभोग किया करता है। अब स्पष्ट है कि यहाँ भी अकार, उकार, मकार से बने ओम् शब्द का ईश्वर अर्थ नहीं है। यदि **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'**

(ऋक् १०. ९०.३) की पाद-कल्पना के सदृश यह पाद-कल्पना मानी जाय तो यथाकथंचित् इसका संबन्ध ईश्वर से किया जा सकता है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से प्रसंग का परित्याग करके।

२—गोपथ ब्राह्मण भी उपनिषत् के सदृश मात्रा-प्रणाली का निर्देश करता है। परिशीलन करने पर गोपथ ब्राह्मण का निर्देश उपनिषत् की अपेक्षा प्राचीन नहीं माना जा सकता। ब्राह्मणकार लिखते हैं—उदात्तोदात्तद्विपद अ उ इत्यर्धचतस्रो मात्रा मकारं व्यञ्जनमित्याहुः। या प्रथमा मात्रा सा ब्रह्मदेवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत् ब्राह्मं पदम्। या सा द्वितीया मात्रा विष्णुदेवत्या कृष्णा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत् वैष्णवं पदम्। या सा तृतीया मात्रा ईशानदेवत्या कपिला वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत् ऐशानं पदम्। या सार्धचतुर्थीमात्रा सर्वदेवत्या व्यक्तीभूता खं विचरति शुद्धस्फटिकसन्निभा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत् पदमनामकम्। गो० ५० १.२५।

इस लेख का आशय यह है कि ओम् के घटक तीन वर्ण हैं अ, उ तथा म्। इनमे से 'म्' व्यञ्जन है और 'अ' तथा 'उ' की अर्धचतुष्टय (साढ़ेतीन) मात्रायें हैं। इनमें से प्रथम मात्रा के देवता ब्रह्मा हैं, उसका ध्यान करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। दूसरी मात्रा के देवता विष्णु हैं, इसका ध्यान करने से विष्णु लोक की प्राप्ति होती है। तीसरी मात्रा के देवता रुद्र हैं, इसका ध्यान करने से रुद्रलोक की प्राप्ति होती है। शेष आधी मात्रा के देवता सब हैं उसका ध्यान करने से अनामक पद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती हे। इससे निम्न परिणाम निकलते हैं—

(क) 'अ' के देवता ब्रह्मा, 'उ' के विष्णु तथा 'म्' के रुद्र हैं।

(ख) प्रत्यक्षर की मात्रा का ध्यान करने से उस उस देवलोक की प्राप्ति होती है।

(ग) अन्तिम आधी मात्रा सर्व-देवताक है और उसके ध्यान से अनामक पद (जिसका कोई विशेष नाम नहीं) अर्थात् मोक्ष प्राप्त होतां है।

अब स्पष्ट है कि ब्राह्मण का आशय पौराणिक धारा के अत्यन्त सन्निकट है तथा इस प्रकार इन अक्षरों से बने ओम् का ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है।

३—प्राचीन वैष्णव आचार्यों ने भी अकार उकार तथा मकार का पृथक् पृथक् अर्थ माना है। उनका कहना हैं कि 'अ' का अर्थ है विष्णु, 'म' का अर्थ है जीव, 'उ' उन दोनों के सम्बन्ध का द्योतक है। यह सम्बन्ध है

शरणागति वा अनन्यभावापन्नता। तब समाहृत ओम् शब्द का अर्थ होगा "जीव निखिल कल्याण गुणैकाकर भगवान् विष्णु की शरणागति के लिये है।" इस तत्त्व का द्योतक पराशरभट्ट का निम्न श्लोक भी है—

> अकारार्थो विष्णुर्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
> मकारार्थो जीवस्तदुपकरणं वैष्णवमिदम्।
> उकारोऽनन्यार्हं नियमयति संबन्धमनयोः
> त्रयीसारस्त्र्यात्मा प्रणवमिममर्थं समदिशत्॥

इसी प्रसंग को वृद्ध हारीत स्मृति में एक दूसरे प्रकार से व्याख्यान किया है। स्मृतिकार लिखते हैं—

> अकोरणोच्यते विष्णुः श्रीरुकारेण चोच्यते।
> तयोर्दासो मकारेण प्रोच्यते सर्वदेहिनः॥

आशय यह कि 'अ' का वाच्य विष्णु है और 'उ' का अर्थ श्री है और 'म्' उन दोनों के सम्बन्ध में जीव की दासता का प्रतिपादक है। तब ओम् का समुदित अर्थ होगा 'श्रीसंसेवित विष्णु का दास है जीव'। चतुर्मात्रिक ओंकार का भी उल्लेख इन आचार्यों ने किया है। वे चारों मात्रायें क्रमशः **वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं**। इस प्रकार यहाँ भी ओम् ईश्वर का वाचक स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ओम् की ईश्वर ग्राहकता—श्रीमहाराज ओम् को स्पष्ट रूप में ईश्वर का ग्राहक मानते हैं। उनका लेख है—'**यह जो ओंकार सो बहुत उत्तम परमेश्वर का नाम है क्योंकि तीन जे अ, उ और म् अक्षर इसमें हैं वे सब मिलके एक ओम् अक्षर हुआ है इस एक अक्षर से बहुत परमेश्वर के नाम आते हैं जैसे अकार से विराट् अग्नि और विश्व इत्यादिकों का ग्रहण किया है उकार से हिरण्यगर्भ वायु और तैजसादिकों का ग्रहण किया है। मकार से ईश्वर आदित्य और प्राज्ञादिकों का वेदादिकशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं**' (स० प्र० प्रथम सं० पृ० १)।

ऐसा ही लेख सत्यार्थप्रकाश द्वितीयादि संस्करणों में भी है। इससे निम्न परिणाम निकलते हैं—

(क) ओंकार परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है।

(ख) यह अ, उ और म् इन तीन अक्षरों का समुदाय रूप है।

(ग) अ, उ और म् पृथक् पृथक् ईश्वर के भिन्न भिन्न नामों के वाचक हैं।

(घ) समुदित ओम् उनका ग्राहक है, वाचक नहीं। यह ग्राहकता भी साक्षात् नहीं परंपरित ही है।

बाचकता—ग्राहकता का भेद—वाचकता और ग्राहकता का भेद इस प्रकार समझना चाहिये—'**द्विरेफ**' पद वाचक है 'भ्रमर' शब्द का और ग्राहक है उस कृष्णवर्ण जीव का जो फूलों पर गुञ्जार करता फिरता है। यही अवस्था यहाँ भी है। जब ओम् का प्रत्येक घटक ईश्वर के भिन्न भिन्न नामों का वाचक है, तो वह समुदाय भी उनसे संबद्ध ही होगा, अतः वह शब्द ग्राहक हो सकेगा, वाचक नहीं। इसीलिए इस प्रणाली से 'ओम्' ईश्वर का वाचक नहीं है। दूसरी प्रकृति-प्रत्यय वाली प्रणाली से ही वह ईश्वर का वाचक है। उसी रूप में वह परमेश्वर का निज नाम वा सर्वोत्तम नाम है।

अन्य व्यवस्था—फिर भी एक ऐसी व्यवस्था हो सकती है, जिससे प्रत्यक्षरका भिन्न भिन्न अर्थ मानने पर भी समुदित ओम् पद ईश्वर का वाचक हो सकता है। गोपथ में यह आता है कि अ, उ और म् क्रमशः ब्रह्मा विष्णु और शिव के वाचक हैं, यह बताया जा चुका है। कोशकार भी इन अक्षरों का अर्थ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मानते हैं। पौराणिक दृष्टि से विष्णु पालन पोषण के अध्यक्ष हैं, ब्रह्मा का कार्य संसार को उत्पन्न करना है, महेश का उसको संहार करना। वैदिक दृष्टि से भी पालनपोषण करने वाली भगवान् की शक्ति विष्णु कही जा सकती है, उत्पन्न करने वाली ब्रह्मा और संहार करने वाली शिव। अ, उ और म् इनके प्रतीक (Symbol) हैं। तब ओम् का अर्थ होगा "जिससे उत्पत्ति स्थिति और लय होते हैं वह"। वह ब्रह्म वा ईश्वर है, जैसा कि '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म** (तै० उ० ३.१) इस उपनिषत् वाक्य से तथा '**जन्माद्यस्य यतः**' (वे० १.१.२) वेदान्त सूत्र से प्रतीत होता है। इस प्रकार तीनों अक्षरों का वाच्य एक में संगत हो जाता है।

३—व्युत्पन्न प्रातिपदिक—प्रकृति-प्रत्यय का योग

'ओम्' को व्युत्पन्न प्रातिपदिक मानने वाली दूसरी धारा में 'ओम्' प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न एक शब्द माना गया है।

१—ओम् की रचना के विषय में ब्राह्मणकार लिखते हैं—क्रो धातुरिति आप्नुधातुः अवतिमप्येके रूपसाम्यात् अर्थसाम्यान्नेदीयस्तस्मादापेरोंकारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः कृदन्तमर्थवत् प्रातिपदिकम् (गो॰ पू॰ १.२६)।

आशय यह कि ओंकार किस धातु से बना है? आपृ धातु से (सम्भवतः यही आपृ पीछे आप्लृ बन गई), कोई कोई ओंकार में 'अव' धातु भी मानते हैं रूप सादृश्य से, किन्तु अर्थ की दृष्टि से आपृ धातु समीप है। ओंकार कृदन्त प्रातिपदिक है। इसका अर्थ है सब में व्याप्त होना।

ब्राह्मण के लेख से प्रतीत होता है कि—

(क) ओम् का अर्थ है सर्वव्यापक भगवान्।

(ख) ओम् व्याप्त्यर्थक 'आपृ' धातु से बना है, क्योंकि इसी का अर्थ वाच्य के अधिक समीप है।

(ग) कोई कोई आचार्य 'अव' धातु से भी ओंकार की निष्पत्ति मानते हैं, किन्तु ब्राह्मणकार इससे सहमत नहीं।

(घ) इस दृष्टि से निर्वचन हुआ 'आप्नोतीत्योम्' अर्थात् व्यापक होने से भगवान् ओम् पद वाच्य हैं।

२—सन्ध्याभाष्य-समुच्चय के अन्तर्गत बाह्वृच सन्ध्यापद्धति के भाष्य में ओंकार के विषय में लिखा है—ओं प्रवेशार्थस्यावतेः। निरुक्ते—'ओमिति पुनः कस्मान्निरुक्तिरिति अवतिर्नामायं धातुर्गतिकर्मा प्रवेशकर्मा च' इति। तथा च अवति प्रविशति गुणानिति वा अव्यते प्रविश्यते गुणैरिति वा ओम्। अयथाप्यनन्तगुणपरिपूर्णत्वमोंकारार्थतया लभ्यते। तदुक्तम्—

ॐ तत्त्ववाची ह्योंकारो वन्द्रसौ तद्गुणोततम्[१]।
स एव ब्रह्मशब्दार्थो नारायणपदोदितः॥

प्रत्येकनिरवधिकानन्तगुणपरिपूर्णत्वादोंकारशब्दवाच्यतया परमात्मा पूर्णत्वादोमित्यर्थः। सं॰ भा॰ स॰ पृष्ठ ८।

आशय यह कि अव धातु जिसके अर्थ प्रवेश और गति हैं, उससे ओम् बनता है। इसलिये ओम् का अर्थ है अनन्त गुण परिपूर्ण भगवान्। अर्थात् अनन्त गुण परिपूर्ण होने से भगवान् ओम् पद वाच्य हैं। उपलब्ध धातुपाठ में अव धातु के अनेक अर्थों में गति तथा प्रवेश का भी उल्लेख है, किन्तु प्रतीत होता है कि निरुक्तकार ओम् से उल्लिखित दो ही अर्थों का संबन्ध मानते हैं।

---

१. पाठ भ्रष्ट है। शुद्ध पाठ अन्वेषणीय।

निरुक्त का उक्त पाठ वर्तमान निरुक्त में नहीं है।[1] सम्भव है कि पहले ऐसा पाठ रहा हो, अथवा यह पाठ निरुक्तान्तर का भी हो सकता है।

६—वैयाकरण भी 'अवतीत्योम्' ऐसा ही निर्वचन मानते हैं। ऋषि दयानन्द ने भी निर्वचन 'अवतीत्योम्' ही किया है, किन्तु अर्थ का संबन्ध रक्षा से माना है। अर्थात् रक्षा करने से भगवान् 'ओम्' पदवाच्य हैं। किन्तु भगवान् किस से किसकी रक्षा करते हैं, इसका समुचित विवरण सन्ध्याभाष्य समुच्चय के अन्तर्गत तैत्तिरीय सन्ध्याभाष्य में कृष्ण पण्डित ने किया है। वे लिखते हैं—

अवति संसारसागरादित्योम्। ये हि पुरुषधौरेया नित्यनैमित्तिककर्मभिः फलानभिसन्धिकृतैः परमेश्वरं नित्यमाराधयन्ति तेभ्यः स्वात्मतत्त्वं प्रतिपाद्य तान् दुस्तरसंसारसागरात्तारयतीति तात्पर्यार्थः। सं० भा० सं० पृ० २१।

आशय यह कि इस संसारार्णव से रक्षा करने से भगवान् ओम् कहाते हैं। वह किसको संसार सागर से पार करते हैं, इस विषय में कृष्ण पण्डित कहते हैं—जो पुरुषश्रेष्ठ फलाकांक्षा को त्यागकर नित्य नैमित्तिक कर्म करते हैं तथा परमेश्वर की आराधना करते हैं उनको भगवान् स्वात्म-तत्त्व का प्रकाश करके दुस्तर संसार सागर से पार पहुँचा देते हैं।

३—शांकर वेदान्त की दृष्टि से निर्वचन है **'सोऽहमित्योम्'**। कृष्ण पण्डित लिखते हैं कि प्रपंचसार के मन्त्र सृष्टि प्रकरण में ओम् का निर्वचन **'सोऽहमित्योम्'** किया गया है। पण्डित महोदय का लेख है—

विशेषस्तु भगवत्पादीयमतानुसारेण प्रपञ्च्यते। प्रपञ्चसारे मन्त्रसृष्टिप्रकरणे—

योऽयं परमहंसाख्यो मन्त्रः सोऽहमितीरितः।
सहोर्लोपेऽस्यपूर्वत्वे सन्धावोमिति जायते॥

यही विषय निम्न कारिका में भी कहा गया है—

सकारञ्च हकारञ्च लोपयित्वा प्रयोजयेत्।
सन्धिं च पूर्वरूपोत्थं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्॥

---

१. ऋग्वेद के माधवभाष्य तथा उसकी टीकाओं में भी निरुक्त के अनेक ऐसे पाठ उद्धृत हैं, जो वर्तमान निरुक्त में नहीं मिलते। सम्पा०

आशय यह कि 'सोऽहम्' मन्त्र के सकार हकार का लोप होकर पूर्वरूप सन्धि द्वारा ओम् बनता है। इस प्रकार बना हुआ ओम् कैसे भगवान् का वाचक है, इस तत्त्व को आचार्य सायण ने तैत्तिरीय सन्ध्याभाष्य पृष्ठ ३ पर विशद किया है। वहाँ लिखा है—

प्रणवस्यार्थः पारिजाते—तस्य सोऽहमित्यजपामन्त्रप्रकृतित्वात् तत्शब्दप्रकृतिकेन स इति शब्देन सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्माभिधीयते—अहमिति सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा तयोः सामानाधिकरण्येनैकत्वम्। एवं सत्यखण्डैकस्वभावं परं ब्रह्म निर्दिश्यते। स एव प्रणवार्थः।

आशय यह कि 'सोऽहम्' पद में 'तत्' पद वाच्य सच्चिदानन्द ब्रह्म है और 'अहं' पद वाच्य प्रत्यगात्मा है। इन दोनों का सामानाधिकरण्य होने से लक्षणा द्वारा ऐक्य प्रतिपादित होने पर 'अखण्डैकस्वभाव ब्रह्म' का निर्देश मिलता है। इसलिये 'सोऽहम्' से बने ओम् का भी अर्थ वही अखण्डैकस्वभाव ब्रह्म है।

५—योगशास्त्र की दृष्टि से 'ओम् का निर्वचन है—**उन्नमयतीत्योम्**। योगसम्बन्धी अथर्वशिख उपनिषत् में लिखा है—**ऊर्ध्वमुन्नमयतीत्योंकारः**। इस अवस्था में उत् पूर्वक नम धातु से ओम् बनेगा। अर्थ होगा—जीवका उन्नमन करने से भगवान् ओम् कहाते हैं। यही विषय अथर्वशिर में इस प्रकार कहा गया है—**अथ कस्मादुच्यते ओंकारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति**'। अर्थात् क्योंकि ओम् के उच्चारण से प्राणों का उत्क्रमण ऊर्ध्वोन्मुख होता है, अतः उसे ओम् कहते हैं।

ओम् की भगवद्वाचकता

ओम् भगवान् का वाचक है। इसमें अनेकानेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के वाक्य उक्त अर्थ के प्रतिपादन में उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख किया जाता है—

(१) ओं तत् सद् इति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधो मतः। गीता। आशय यह कि ओम्, तत् तथा सत् ये शब्द भगवान् के वाचक हैं।

उपनिषत्कार लिखते हैं—

(२) ओमिति ब्रह्म। तै. उ. १.८।

(३) तदिति वा एतस्य महतो भूतस्य नाम भवति ।[१]

(४) सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । (छान्दो ६-२-१)

उपनिषत् के इन वचनों से प्रमाणित होता है कि उक्त पद भगवान् के वाचक हैं ।

(५) 'ओं खं ब्रह्म' (यजुः ४०-१७) अर्थात् ओंकार ही ख तथा ब्रह्म पदवाच्य है ।

यह ओंकार यदि प्रारम्भ में उच्चरित हो तो उसकी 'टि' को प्लुत हो जाता है, ऐसा वैदिकों का नियम है, और उसके द्योतन के लिये 'ओ३म्' इस-प्रकार लिखा जाता है ।

ओम् का महत्त्व

ओंकार की महिमा श्रुति-स्मृति तथा ऋषि-मुनियों ने गाई है । अनेक स्थलों पर इस विषय के प्रतिपादक अनेक वचन उपलब्ध होते हैं । वर्तमान काल में भी अनेक साधक इसकी आराधना करके सिद्धि लाभ करते हैं । इसे वेदों का सार तथा गायत्री का मूर्धा कहा गया है । ऋषि दयानन्द कहते हैं—यह **ओंकार परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है** । योगसूत्र में भी **'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** (१।२७, २८) आदि सूत्रों द्वारा भगवान् का वाचक ओंकार माना गया है । योगियाज्ञवल्क्य भी कहते हैं—

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः ।
तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥

वृद्ध हारीत लिखते हैं—

ॐ कारः स्यात्परं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकः ।
वृ. हा. १०. ३५ ।

---

१. "यह श्रुति भगवद्गीता की नीलकण्ठी टीका, ब्रह्मानन्द गिरि के व्याख्यान और बल्लभ मत की तत्त्वदीपिका ग्रन्थ में उपलब्ध होती है, हमारे द्वारा संगृहीत उपनिषत् संग्रह में नहीं मिलती" यह टिप्पणी 'गजानन साधले' विरचित 'उपनिषद्वाक्यमहाकोश' पृष्ठ २२० पर निर्दिष्ट है । सम्पा० ।

इसी प्रकार कठ मुण्डक आदि उपनिषदों में भी ओम् का महत्त्व वर्णित है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि यह सब ओम् की महिमा वाच्य-वाचक के अभेद की दृष्टि से ही संगत है, अन्यथा नहीं।

ओंकाराय नमः

इति विनोदिन्याख्यायामष्टोत्तरशतनाममालिका-
व्याख्यायां मुख्यनामनिर्वचनरूपं
प्रथमं प्रकरणम्

प्रकरण–१ नाम संख्या–१

द्वितीय प्रकरण

ओंकार से गृहीत नाम

अकार से गृहीत नाम

ओंकार से गृहीत नामों के सम्बन्ध में ऋषि ने नौ नामों का उल्लेख किया है। अकार, उकार और मकार से क्रमशः तीन तीन नाम ग्रहण किये हैं। अकार से विराट्, अग्नि तथा विश्व इन तीन नामों का ग्रहण किया है। अकारादि से उक्त नामों का ग्रहण होता है, इसका साधारण सा निर्देश वृद्ध-हारीत में मिलता है। वहाँ लिखा है 'अकारे रूढ इत्यग्निः' (वृ. हा. १०-४६) अर्थात् अकार अग्नि में रूढ़ है। आशय कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है कि अकार से अग्नि आदि नामों का ग्रहण होता है।

विराट्

श्रीमहाराज ने इस शब्द को विपूर्वक राजृ धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) विविधं नाम चराचरं जगत् राजते[1] नाम प्रकाशते स विराट् विविध अर्थात् बहुत प्रकार से जगत् को जो प्रकाशित करै उसका नाम विराट् है। (स. प्र. प्र० सं० पृ. ४)

१—वैयाकरणों के मतानुसार दीप्त्यर्थक धातुएँ अकर्मक होती हैं। यथा—'लज्जासत्तास्थितिजागरणं, वृद्धिक्षयजीवितमरणम्। ······रुचिदीप्त्यर्थान् धातुगणानकर्मकमाहुः॥'' अतः यहाँ 'राजते' को अन्तर्णीतण्यर्थक समझना चाहिए। इसकी पुष्टि उत्तर उद्धरण के 'राजयति' निर्देश से भी होती है। अथवा वैयाकरणों के उक्त निर्देश को प्रायिक मानना चाहिए। उस अवस्था में उत्तर उद्धरण के 'राजयति' निर्देश में स्वार्थिक णिच् जानना चाहिए। हमारे मत में प्रथम पक्ष अधिक युक्त है। इसी दृष्टि से उभयत्र दीप्त्यर्थक 'काश्ृ' से णिजन्त 'प्रकाशयति' प्रयोग भी अञ्जसा उपपन्न हो जाता है। सम्पा०।

(ख) वि उपसर्ग पूर्वक राजृ दीप्तौ धातु से क्विप् प्रत्यय करने से विराट् शब्द सिद्ध होता है 'यो विविधं नाम चराचरं जगत् राजयति प्रकाशयति स विराट्' विविध अर्थात् जो बहुत प्रकार के जगत् को प्रकाश करै इससे विराट् नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है। (स. प्र. पृ. ३ स्तं २)

आशय यह कि स्थावर जंगमात्मक विविध जगत् को प्रकाशित करने से भगवान् विराट् कहाते हैं। यहाँ प्रकाश करने का अभिप्राय है **अव्यक्तावस्थापन्न जगत् को व्यक्त करना**। इस प्रकार भगवान् में जगत्कर्तृत्व आया, वे जगत् के कर्ता प्रमाणित हुए।

(ग) ततो विराडजायत' (यजुः ३१.५) इस मन्त्र का भाष्य करते हुए श्री महाराज ने दो विभिन्न स्थलों पर दो प्रकार का विग्रह किया है। वेदभाष्य में आप लिखते हैं **'विराट् विविधैः पदार्थैं राजते प्रकाशते स विराट् ब्रह्माण्डरूपः'** । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सृष्टिविद्याप्रकरण में आपने लिखा है—**'सर्वशरीराणां समष्टिदेहो विविधैः पदार्थैं राजमानः सन् विराट्'**। दोनों स्थलों पर निर्वचन के शब्दों में भेद होने पर भी आशय एक ही है। यह निर्वचन प्रसंगानुसारी है। इनका वाच्य ईश्वर नहीं है।

२—**आचार्य सायण 'ततो विराडजायत'** का भाष्य करते हुए विराट् पद का निर्वचन करते हैं—**'विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्'**। जिसमें ये नाना प्रकार की वस्तुयें (स्थावर जंगमात्मक जगत्) विराजमान है। इसलिये भगवान् विराट् हैं। श्रुति भी कहती है **'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'** (यजुः ३१।२) अर्थात् यह सब ब्रह्माण्ड भगवान् में ही है। यह स्थिति दो प्रकार की है, किसी के मत में कार्यरूप से, किसी के मत में आधेयरूप से।

३—**यास्क** ने भी विराट् का निर्वचन किया है। यद्यपि यह निर्वचन विराट् नाम के छन्द के प्रकरण में किया गया है, तथापि प्रकृति प्रत्यय की दृष्टि से इन निर्वचनों की उपयोगिता है ही। निरुक्तकार लिखते हैं—**'विराट् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा'** (निरु. ७.१२)। अशय यह कि विराट् शब्द विपूर्वक राज् , विपूर्वक राध् तथा विपूर्वक आप्लृ से बनता है।

भगवान् की दृष्टि से इन धातुओं द्वारा निम्न निर्वचन हो सकते हैं—

(क) **विशेषेण राजते इति विराट्** विशेष रूप से प्रकाशित होने से भगवान् विराट् कहाते हैं। प्रकाशित होने में विशेषता यही है कि वे

पर-प्रकाश्य न होकर स्वयं-प्रकाश हैं। इस निर्वचन का मूल **'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (मुण्डक २.२.१०) इस उपनिषद् वचन में निहित है।

(ख) **विशेषेण राध्नोति साधयति सतामनुष्ठेयानीति विराट्'** सत्पुरुषों के कार्य साधक होने से भी भगवान् विराट् कहे जाते हैं। इस प्रकार परिणाम यह निकलता है कि भगवान् स्वयं प्रकाश हैं, सत्पुरुषों के कार्य साधक हैं तथा सर्वत्र व्याप्त हैं।

४—**शाङ्कर वेदान्त** में विराट् का निर्वचन होता है **'विविधेन नानारूपेण राजते इति विराट्'** जो नाना रूपों में अध्यस्त हो रहा है वही विराट् है। इनकी दृष्टि से शुद्धसत्त्वा माया का अधिष्ठाता 'ईश्वर' और मलिनसत्त्वा से अधिष्ठेय 'प्राज्ञ'। इसी मलिनसत्त्वा का दूसरा नाम अविद्या भी है। यही प्राज्ञ (प्रकृत्यैव अज्ञः) आविद्यक सूक्ष्मशरीर व्यष्टि का अधिष्ठाता होने पर 'तैजस' और समष्टि का अधिष्ठाता होने पर 'हिरण्यगर्भ'। यही हिरण्यगर्भ स्थूलशरीर समष्टिकी दृष्टि से विराट् या वैश्वानर और व्यष्टि की दृष्टि से विश्व कहाता है (पञ्चदशी प्रक. १ का. १५-१९)।

विराट् परमात्मवाची—निम्न मन्त्र में विराट् पद भगवान् का वाचक है—

> **विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः।**
> **विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे,**
> **स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु।** अथर्व ९. १०. २४।

'विराट्' = चराचर को प्रकाशित करनेवाले विराट् नामधारी भगवान् ने ही **'वाक्'** = वाणी, **'पृथिवी अन्तरिक्षम्'** = पृथिवी तथा द्युलोक व्यक्त किये हैं। आशय यह कि सम्पूर्ण चराचर जगत् जो कि अव्यक्त में लीन था, उसके व्यक्त करनेवाले विराट् भगवान् ही हैं, इसलिये उन्हें विराट् कहते हैं। **'विराट् मृत्युः'** = वे ही विराट् भगवान् इस सब का संहार भी करते हैं अर्थात् व्यक्त को अव्यक्त रूप में भी वही परिणत करते हैं। वे ही **'विराट् साध्यानामधिराजो बभूव'** = सब साधकों के हृदय में प्रकाशित होते हैं। तथा वे ही **'प्रजापतिः विराट्'** = प्रजा का पालन करने वाले हैं। तथा उन्हीं विराट् के **'भूतं भव्यं वशे'** = भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान वश में हैं। **'सः'** = वे ही विराट् भगवान् **'भूतं भव्यं मे वशे कृणोतु'** = भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान को मेरे वश में करें।

आशय यह कि सम्पूर्ण जगत् भगवान् की शक्ति से व्यक्त होकर उन्हीं में विराजता है, अतः वे विराट् कहाते हैं। उनकी कृपा हो जाने पर कुछ भी असाध्य नहीं है। अतः प्रत्येक प्राप्तव्य अर्थ के लिये उन्हीं की प्रार्थना करनी चाहिये।

विराजे नमः

अग्नि

१—श्री महाराज ने इस शब्द की रचना अञ्चु, अग, अगि तथा इण् धातु से मानी है। आप लिखते हैं—

(क) अञ्चु गतिपूजनयोः इस धातु से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। 'गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति[1] पूजनं नाम सत्कारः। अञ्चति अच्यते वा सोऽयमग्निः'। जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा के योग्य है उसका नाम अग्नि है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० ५)

(ख) अञ्चु गतिपूजनयोः, अग, अगि, इण् गत्यर्थक धातु हैं इनसे अग्नि सिद्ध होता है। 'गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति[1], पूजनं नाम सत्कारः योऽञ्चति अच्यतेऽङ्गत्येति सोऽयमग्निः।' जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम अग्नि है। (सं० प्र० पृ० ५ स्तं० १)

२—निरुक्तकार ने अग्नि शब्द के अनेक निर्वचन किये हैं। यतः वे प्रधानतया आधिभौतिक एवं आधिदैविक दृष्टिकोण से लिख रहे हैं अतः उनके निर्वचन भी वैसे ही हैं। प्रथम निर्वचन है अग्रणीर्भवति, इसका

---

1. 'गति' का गमन और प्राप्ति अर्थ लोक प्रसिद्ध है, ज्ञानार्थ अप्रसिद्ध सा है। अतः कतिपय प्राचीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—(१) 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः।' स्कन्दस्वामी निरुक्तटीका २।१६ (भाग २, पृष्ठ ९२)। (२) 'गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् गमेर्ज्ञानार्थता।' ऋग्भाष्यटीका जयतीर्थ, पृष्ठ २। (३) 'गत्यर्था ज्ञानार्थाः' न्यायसंग्रह (हैम परिभाषापाठ) हेमहंसगणि, पृष्ठ ९०॥ सम्पा०॥

स्पष्टीकरण 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते' इस वाक्य द्वारा किया गया है।[1] इसका आशय है—यतः यज्ञों में सर्वप्रथम अग्नि का प्रणयन किया जाता है अतः 'अग्रणी' = अग्रे नीयमान होने से वह अग्नि कहाई। यज्ञमात्र में अग्न्याधान प्रथम कर्तव्य है[2], इसमें कोई सन्देह नहीं। दूसरा निर्वचन अग्नि साधारण की दृष्टि से किया गया है 'अङ्गं नयति सन्नममानः' अर्थात् अग्नि प्रत्येक वस्तु को अपना अङ्ग बना लेती है, अपने जैसा कर लेती है। प्रत्येक जलती हुई वस्तु अग्नि ही तो है। स्थौलाष्ठीवि आचार्य का निवर्चन है 'न क्नोपयति न स्नेहयति' इस दृष्टि से अग्नि शोषक है, स्नेहक नहीं। आचार्य शाकपूणि इसे तीन धातुओं से बना मानते हैं। उन्होंने इस घटकसमुदाय के दो समूह किये हैं—

(क) इण् अञ्जु नी (ख) इण् दह् नी

इसका आशय होगा कि अग्नि दाहक, प्रकाशक, प्रापक तथा वस्तु के रूप को व्यक्त करनेवाला है।

इनमें से—

भगवान् भी अग्रणीर्भवति क्योंकि प्रत्येक छोटे बड़े कार्य में उनका सर्वप्रथम स्मरण किया जाता है।[3] इसी प्रकार भगवान् भी 'न क्नोपयति = न स्नेहयति' न किसी से राग करते हैं न द्वेष। उनके लिये सब एक हैं, चाहे कोई उनकी निन्दा करे चाहे स्तुति।

---

१. यद्यपि द्वितीय वाक्य प्रथम का स्पष्टीकरण रूप हो सकता है, तथापि हमारा विचार है कि 'अग्रणीर्भवति' और 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते' ये दो पृथक् स्वतन्त्र निर्वचन हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती को भी यही मत अभिप्रेत है। उन्होंने 'ऋग्वेदभाष्य के नमूने के अंक' में तथा ऋग्वेद-भाष्य (१।१।१) में 'अग्रणीः' का अर्थ 'सर्वोत्तमः' और 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते' का 'सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनात्' पृथक् पृथक् अभिप्राय व्यक्त किये हैं। आचार्य शंकर ने भी 'अग्रणीर्भवति' को स्वतन्त्र निर्वचन माना है। वे लिखते हैं—'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादि-योगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति।' वेदान्तभाष्य १।२।२८॥ सम्पा०।

२. अग्निहोत्र-दर्शपौर्णमास आदि प्रत्येक कर्म में प्रथम गार्हपत्य से आहवनीय के लिए अग्नि का प्रणयन किया जाता है। सम्पा०।

३. द्रष्टव्य—'अग्निशब्दोऽपि अग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति।' शंकर वेदान्तभाष्य १।२।२८॥ सम्पा०।

३—**श्रुतिसिद्धान्तसंग्रह्** में अग्नि का एक नवीन निर्वचन किया गया है **'न गच्छति स्वतो न प्रवर्तते इत्यगः, विश्वं अगं नयतीत्यग्निः'**। आशय यह कि इस जड़ जगत् का संचालन करने से भगवान् अग्नि कहाते हैं। यह संचालन दो प्रकार से हो सकता है। एक सर्गादिकाल में प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करके जगन्निर्माण रूप से, दूसरा निर्मित जगत् के नियन्त्रण रूप से।

४—**वैयाकरण** 'अगि' धातु से ही अग्नि शब्द बनाते हैं। उणादिका सूत्र है **'अङ्गेर्न लोपश्च'** (४।५०)। तब निर्वचन होगा **'अंगतीत्यग्निः'**। इस उणादि सूत्र की व्याख्या में श्री स्वामी जी ने लिखा है—**अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा सोऽग्निः**।

अग्नि शब्द ईश्वरवाची—निम्न स्थल पर अग्नि शब्द भगवान् का वाचक है—

अग्निमीळे पुरोहितं **यज्ञस्य देवमृत्विजम्**।
होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋ. १. १. १॥

पुरोहितम् = प्रत्येक कार्य में लेखन कीर्तनादि द्वारा जिनका सर्वप्रथम स्थापन किया जाता है। **यज्ञस्य देवम्** = जो यज्ञ के देवता हैं अर्थात् जिनको उद्देश्य करके यज्ञ में हविः प्रदान किया जाता है, अथवा जो पूजनीयों के भी पूजनीय हैं। **ऋत्विजम्** = प्रत्येक प्राप्तव्य वस्तु के लिये जिनका साहाय्य अपेक्षित है। **होतारम्** = जिनको सब पुकारते हैं। **रत्नधातमम्** = रमणीयतम पदार्थ अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रदाता तेजस्वी, न्यायकारी तथा अग्रणी होने के कारण अग्नि नामधारी सर्वजगद् वन्दनीय परमात्मा की। **ईळे** = स्तुति करता हूँ, अथवा उनसे याचना करता हूँ।

इस मन्त्र में आये हुए विशेषण तथा क्रिया इस बात को प्रमाणित कर रहे हैं कि यहाँ अग्नि का अर्थ परमात्मा है। अग्नि शब्द ब्रह्म का भी वाचक होता है, इस विषय में निम्न प्रमाण हैं—

कौषीतकि ब्राह्मण में लिखा है **'ब्रह्म वा अग्निः'** (९.१.५) अर्थात् ब्रह्म को अग्नि भी कहते हैं। शतपथ में आता है **'अग्निर्ब्रह्म'** अर्थात् अग्नि ही ब्रह्म है।[1]

अग्नये नमः

---

१. अग्नि शब्द ब्रह्म का वाचक है इसके लिए जो महानुभाव अधिक प्रमाण जानना चाहें, वे स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्वेद भाष्य के नमूने का

विश्व

१—श्री महाराज ने इस शब्द को विश प्रवेशने धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) विश प्रवेशने इस धातु से विश्व शब्द सिद्ध होता है 'विशन्ति सर्वाणि भूतान्याकाशादीनि यस्मिन् स विश्वः' प्रवेश करते हैं सब आकाशादि भूत जिसमें उसका नाम विश्व है। सं० प्र० प्र० सं० पृ० ५।

(ख) विश प्रवेशने इस धातु से विश्व शब्द सिद्ध होता है 'विशन्ति प्रविष्टानि (सन्ति) सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् यो वाकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स ईश्वरः' जिसमें आकाशादिक सब भूत प्रवेश कर रहे हैं अथवा जो इनमें व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है। स. प्र. पृ. ५ सं. १।

इसका आशय संक्षेप में यही है कि भगवान् इस जगत् में ओत प्रोत है। मन्त्र भी कहता है—'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' (यजुः ३२।८)।

(ग) उणादिसूत्र 'अशुप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् (१।१५१) की व्याख्या करते हुए एक निर्वचन यह भी किया गया है—'विशति सर्वत्र स विश्वः'। यह निर्वचन भगवान् की व्यापकता की दृष्टि से है।

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) शाङ्करसम्प्रदायानुसारी भाष्य में इस शब्द के तीन निर्वचन किये गये हैं—

प्रथम—विश्वस्य जगतः कारणत्वेन विश्वमित्युच्यते। आशय यह कि विश्वकारणत्वाद् विश्वं ब्रह्म, यथा आयुष्कारणत्वाद् घृतमायुः।[1] अर्थात् जगत् का कारण होने से भगवान् विश्व कहाते हैं।

द्वितीय—'विशतीति विश्वं ब्रह्म' अर्थात् जगत् में प्रवेश करने से भगवान् विश्व कहाते हैं।

अङ्क तथा ऋग्भाष्य के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में देखें। ऋषि के उक्त मत पर उस समय के पं० महेशचन्द्र प्रभृति ने जो आक्षेप किए थे, उनका उत्तर ऋषि ने 'भ्रान्ति-निवारण' पुस्तक में दिये हैं। अतः उसे भी देखना चाहिए। सम्पा०।

१. आयुर्घृतम् आयुषो निमित्तमिति गम्यते। महाभाष्य १।१।५९॥६।१।३२॥ सम्पा०।

इस निर्वचन का मूल 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् (तै० उ० २।६) इस उपनिषद् वाक्य में निहित है।

तृतीय—'संहृतौ विशन्ति सर्वाणि भूतान्यस्मिन्निति विश्वं ब्रह्म' अर्थात् संहारकाल में सम्पूर्ण जगत् जिसमें लीन हुआ करता है इसलिए उसे विश्व कहते हैं।

यह निर्वचन ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादानकारण है, इस दृष्टि से किया गया है। क्योंकि प्रलय में कार्य अपने उपादान में ही लीन होगा, निमित्तादि में नहीं। इस निर्वचन का मूल 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इस उपनिषद्वचन में निहित है।

(ख) विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायानुसारी भाष्य में आचार्य श्री रङ्गनाथ इस शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—विशत्यवयवानिति विश्वम्' अर्थात् सम्पूर्ण अवयवों में प्रविष्ट तथा परिपूर्ण होने से भगवान् विश्व कहे जाते हैं। अपने निर्वचन को प्रमाणित करने के लिए आचार्य ने महाभारत से निम्न प्रमाण उद्धृत किया है—

वेशनात् विश्वमित्याहुः लोकानां काशिसत्तम।
लोकाँश्च विश्वमेवेति प्रवदन्ति मनीषिणः॥

आशय यह कि सम्पूर्ण लोकों में प्रविष्ट होने से भगवान् विश्व कहाते हैं और प्रवेश के कारण ही, इसमें प्रविष्ट होने के कारण लोकों को भी विश्व कहते हैं।

३—अन्य निर्वचन—एक निर्वचन यह भी हो सकता है कि 'स्वाभाविक-निरवधिकातिशयतामापन्नैः गुणगणैर् आविष्ट इति विश्वम्' अर्थात् स्वाभाविक गुण-गणों से परिपूर्ण होने से भगवान् विश्व कहाते हैं।

विश्वाय नमः

उकार से गृहीत नाम

उकार से महाराज ने हिरण्यगर्भ, वायु और तैजस इन तीन नामों का ग्रहण किया है।

हिरण्यगर्भ

१—महाराज ने इस शब्द में बहुव्रीहि तथा तत्पुरुष दोनों समास माने हैं। आप लिखते हैं—

(क) हिरण्यं तेजसो नाम हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भः, अथवा हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भः हिरण्यगर्भः' । हिरण्यगर्भ शब्द का यह अर्थ है कि जिससे तेजवाले सूर्यादिक पदार्थ उत्पन्न होके जिसके आधार पर रहते हैं उसका नाम हिरण्यगर्भ है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० ५)

(ख) ज्योतिर्वै हिरण्यम् (शत० ६·७·१·२) तेजो वै हिरण्यम् (तै० ब्रा० १·८·९·१) इत्यैतरेये शतपथे च ब्राह्मणे[1]। यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः' जिसमें सूर्यादिक तेजवाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार पर रहते हैं अथवा जो सूर्यादिक तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति और निवास स्थान है इससे उस परमेश्वर का नाम हिरण्यगर्भ है। (स० प्र० पृ० ५ सं० १)

२—**श्वेताश्वतर के भाष्यकार** हिरण्यगर्भ शब्द का एक सुन्दर निर्वचन निरुक्त को दृष्टि में रखकर करते हैं—'**हितं रमणीयमत्युज्ज्वलं ज्ञानं गर्भेऽन्तःसारो यस्य**' अर्थात् रमणीय तथा उज्ज्वल ज्ञान जिसमें विद्यमान है वे भगवान् हिरण्यगर्भ हैं।

३—**देवराजयज्वा**—निघण्टु में हिरण्य शब्द धन के पर्यायों में लिखा है। देवराज यज्वा इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं '**अथवा द्विधातुजं रूपं हिनोतेः रमतेश्च धातुद्वयात् समुदितात्** कन्यन् प्रत्ययो बाहुलकात् **रूपसिद्धिश्च, हितं च तत् आपदि दुर्भिक्षादौ** रमयति च सर्वदा सर्वम् इति'। आशय यह कि हितकर तथा रमणीय होने से धन का नाम हिरण्य है।

यह निर्वचन भगवान् में इस प्रकार संगत है—'**हितं च रमणीयं च हिरण्यम्**' अर्थात् हितकारी तथा रमणीय पदार्थ कहाते हैं 'हिरण्य' और हिरण्य का गर्भ अर्थात् निवास स्थान होने से भगवान् हिरण्यगर्भ हैं।

४—**निरुक्तकार ने** भी हिरण्यगर्भ शब्द का निर्वचन किया है, किन्तु आधिदैविक दृष्टि से और इसका अर्थ सूर्य माना है। आपका लेख है—'**हिरण्य-**

---

१. सत्यार्थप्रकाश का मूल पाठ है—'इत्यैतरेयशतपथब्राह्मणे' (द्व० सं० २)। यहां समास के कारण ऐतरेय का प्रथम निर्देश है। ऐतरेय ब्राह्मण का पाठ है—'ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम्' (७।१२)।

गर्भो हिरण्मयो गर्भो, हिरण्मयो गर्भोऽस्येति वा, गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा' (निरुक्त १०।२३) ।

आचार्य यास्क ने इस शब्द में कर्मधारय तथा बहुव्रीहि समास माने हैं तथा गर्भ शब्द गृभ धातु से बनता है, जिसका अर्थ स्तुति तथा अनर्थनाश माना है। वर्तमान धातुपाठ में 'गृभ' धातु उपलब्ध नहीं है।[1] उणादिकार ने गर्भ को गृ धातु से सिद्ध किया है। वहाँ का सूत्र है 'अर्तिगृभ्यां भन्' (३।१५२)।

इन निर्वचनों का भगवत्परक व्याख्यान इस प्रकार होगा—'हिरण्मयस्तेजोमयः स चासौ गर्भः स्तुत्यः अथवा हिरण्यस्तेजोमयः स चासौ गर्भः अनर्थनाशकः' अर्थात् तेजस्वी तथा अनर्थनाशक होने से भगवान् 'हिरण्यगर्भ' कहाते हैं।

५—विष्णुसहस्रनाम के

(क) शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में इस शब्द वा निर्वचन किया है—'हिरण्यमण्डं यद्वीर्यसम्भूतं, तदस्य गर्भ इति'। आशय यह कि तेजस्वी अण्ड जिससे उत्पन्न हुआ है अथवा जिसमें विद्यमान है, इसलिये भगवान् हिरण्यगर्भ कहाते हैं। यहाँ हिरण्मय अण्ड से अभिप्राय है मनुवर्णित 'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्' इस अंड से। वैज्ञानिक दृष्टि से यह अण्ड नीहारिका (Nebula) है। ऐसी अनेक नीहारिकायें अनेक ब्रह्माण्डों की कारण हैं,[2] और वे सब भगवान् में हैं, अतः भगवान् हिरण्यगर्भ हैं।

---

१. वेद में असकृत् प्रयुक्त 'गृभ्णाति' आदि पद मूल रूप से इसी 'गृभ' धातु से निष्पन्न हैं। वैयाकरणों ने धातुलाघव के लिये समानार्थक गृभ और गृह में से लोक वेद उभयत्र प्रसिद्ध 'गृह' का निर्देश किया है, केवल वेद प्रसिद्ध 'गृभ' धातु का निर्देश न करके उससे निष्पन्न प्रयोगों के साधुत्व-ज्ञापन के लिए 'गृह' के हकार को वेद में भकार आदेश का विधान किया। यथा—'हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य'। महाभाष्य ८।२।३२॥

२. हमारे अध्ययन के अनुसार वैदिक वाङ्मय में नीहारिकाओं के लिए 'अण्ड' शब्द का व्यवहार नहीं हुआ। जहाँ भी अण्ड वा महद् अण्ड का उल्लेख मिलता है, वहाँ जगत् के मूल कारण प्रकृति का एक अण्डाकार में परिवर्तित होने का उल्लेख है। उस अण्ड में ही सृष्टि के ग्रह उपग्रह

(ख) विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायानुसारी 'भगवद्गुणदर्पण भाष्य' में आचार्य श्री रङ्गनाथ लिखते हैं—**'निर्दोषनिरवद्यमित्यपरमसत्त्वात्मकद्रव्यविशेषत्वेन हिरण्मयसाम्यात् हिरण्यं परमं धाम तस्य गर्भभूतः तत्र नित्यं वासात्'**। यह निर्वचन शुद्ध वैष्णव दृष्टि से है, क्योंकि उन्हीं की दृष्टि से विष्णुलोक परमधाम है और वहाँ विष्णु भगवान् निवास करते हैं।

६—सुबोधिनीकार लिखते हैं—

(क) **हर्यते स्वप्रभया दीप्यते इति हिरण्यम्'** अर्थात् स्वयं प्रकाशपिण्ड कहाते हैं हिरण्य, **'एतादृशानां हिरण्यानां गर्भ उपादाता हिरण्यगर्भः परमेश्वरः'**। इन तेजस्वी पदार्थों के उपादाता होने से भगवान् हिरण्यगर्भ कहाते हैं।

(ख) **हिरण्मयसाम्यात् हिरण्यं, हितं च रमणीयं च हिरण्यं=परमं धाम मोक्षरूपम् यद् गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भ ईश्वरः**। आशय यह कि स्वर्ण के समान तेजस्वी तथा परमशुद्ध होने से अथवा हितकारी तथा मनोहर होने से हिरण्य नाम हुआ मोक्षपद का और वह हिरण्य जिस के अधिकार में है, वे हैं मोक्ष प्रदाता भगवान् हिरण्यगर्भ।

हिरण्यगर्भ शब्द की परमात्म-वाचकता—भगवान् का वाचक यह शब्द निम्न मन्त्र में आता है—

नक्षत्र आदि उसी प्रकार बनते रहते हैं जैसे लौकिक अण्ड के अन्दर प्राणियों के अंग प्रत्यङ्गों की उत्पत्ति होती है। जब ग्रह नक्षत्र अपने रूप में सत्ता रखने में समर्थ हो जाते हैं, तब वह अण्ड फटता है और उसमें से ग्रह नक्षत्रादि उसी प्रकार बाहर निकलते हैं जैसे अण्डज प्राणी। नीहारिकाओं की भी उत्पत्ति उसी में ही होती है। ऐसे अण्डों की संख्या भी अत्यधिक होती है। ऐसे अण्डों के लिए वैदिक ग्रन्थों में प्रजापति, यज्ञ, पुरुष आदि अनेक शब्दों का व्यवहार होता है। इस विषय के विशेष विवेचन के लिए श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत "वेदविद्यानिदर्शन", विशेषकर उसके "गर्भ=अण्ड" नामक सप्तम अध्याय का अवलोकन करना चाहिए। सम्पा०।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
ऋ० १०।१२१।१॥

हिरण्यगर्भः = सम्पूर्ण सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों के तथा उज्ज्वल वेद ज्ञान के आश्रय होने से हिरण्यगर्भ पदवाच्य भगवान्, अग्रे समवर्तत = पूर्व से ही विद्यमान थे, एकः जातस्य भूतस्य पतिः आसीत् = केवल वे ही इन उत्पन्न पदार्थों के रक्षक हैं, स पृथिवीम् उत द्यां दाधार = वे ही इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करते हैं। कस्मै देवाय हविषा विधेम = उन लोकोत्तरगुणविशिष्ट भगवान् की हम विधिपूर्वक परिचर्या किया करें।

इस मन्त्र में आये 'कस्मै' पदके भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं—

(क) दयानन्द स्वामी—'कस्मै' का अर्थ सुखस्वरूप करते हैं। क शब्द सुख का वचक है ऐसा निरुक्तकार का मत है। वे लिखते हैं—'कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा' (निरु. १०.२२)।

(ख) आचार्य सायण—'प्रजापतिर्वै कः'—इस तैतिरीय (तै० ब्रा० २।२।५।५) वाक्य का अनुसरण करके कस्मै का अर्थ प्रजापतये = प्रजापति के लिये करते हैं।

(ग) भगवान् शंकर—निरुक्त की 'अथापि वर्णलोपो भवति' (निरुक्त २.१) वाली शैली का अनुसरण करके कस्मै का अर्थ एकस्मै = केवलाय एक अद्वितीय कहते हैं। वायुपुराण में भी परमात्मा का नाम 'क' इसीलिये माना गया है। पुराणकार लिखते हैं 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञानाद्-एकत्वाच्च स कः स्मृतः' (वा. पु. पू. खं. ४०-४०)। आशय यह कि क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के विषय में परिपूर्णज्ञान रखने से तथा एक होने से भगवान् 'क' कहे जाते हैं। इनमें से प्रथम अर्थ की दृष्टि से निर्वचन होगा—'चिकेतीति कः' इस अवस्था में धातु 'कि ज्ञाने' होगी। दूसरा निर्वचन का स्वरूप ऊपर दिया ही गया है।

(घ) छान्दोग्य उपनिषत् की दृष्टि से 'क' शब्द ब्रह्म का वाचक है। उपनिषत् कहती है—'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा-४-१०-५)। तब कस्मै का अर्थ होगा—ब्रह्मदेव के लिये।

पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से 'किम्' शब्द की सर्वनाम संज्ञा है 'क' की नहीं और किम्-स्थानीय कादेश मानने पर भी 'किम्' की सर्वनाम संज्ञा

तभी होती है, जब कि वह संज्ञा या उपसर्जन न हो। ऐसी अवस्था में 'कस्मै' प्रयोग 'बहुलं छन्दसि' का उद्भट उदाहरण है।[1]

हिरण्यगर्भाय नमः

---

1. महाभाष्यकार ने इस समस्या का पक्षान्तर में परिहार इस रूप से किया है—'यद्यपि किमो अथापि न किमः—उभयथापि कस्मायानुब्रूहीति भवितव्यम्। सर्वस्य ही सर्वनाम संज्ञा क्रियते, सर्वश्च प्रजापतिः, प्रजापतिश्च कः।' महाभाष्य ४।२।२५॥ अर्थात् चाहे किम् स्थानीय 'क' आदेश हो चाहे 'क' स्वतन्त्र शब्द हो, उभयथा 'कस्मायानुब्रूहि' ऐसा ही प्रयोग होना चाहिए। क्योंकि 'सर्व' की सर्वनाम संज्ञा की जाती है, 'सर्व' प्रजापति है, प्रजापति ही 'क' है।

कतिपय बातें प्राचीन शास्त्रों में ऐसी हैं जिनको पाणिनीय नियमों के अनुसार समझ सकना सर्वथा असम्भव है। यथा ईश्वर वाचक 'ओम्' शब्द की निपात संज्ञा। पाणिनि के मतानुसार असत्त्ववाची चादियों की निपात संज्ञा होती है (चादयोऽसत्त्वे—१।४।५७)। परन्तु गोपथ ब्राह्मण (पूर्वार्ध १।२६) में ईश्वरवाचक ओम् शब्द को निपात संज्ञक कहा है। उज्ज्वलदत्त ने प्राचीन परम्परा के अनुसार उणादिवृत्ति (१।१४१) में ओम् को निपात मानकर अव्यय कहा है। इस पर भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा में उक्त उणादिसूत्र पर उज्ज्वलदत्त के कथन को इसी युक्ति से अशुद्ध कहा है कि ओम् सत्त्ववाची है, अतः इसकी निपात संज्ञा नहीं हो सकती। इसी प्रकार प्राचीन परम्परा में पदों के चार प्रकार माने जाते हैं—आख्यात, नाम, उपसर्ग और निपात (द्र० निरुक्त १।१ तथा महाभाष्य के आदि में)। पाणिनि के मतानुसार 'स्वरादि' शब्द सत्त्ववाचक है, अतएव उनकी उसने सीधी अव्यय संज्ञा कही 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (१।१।३७)। अन्यथा निपातान्तर्ग होकर अव्ययत्व हो ही जाता। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के स्वरादि शब्द जो निपात संज्ञक नहीं हैं, उनका प्राचीनमत में निपातान्तर्गत संग्रह किस प्रकार होता था, यह सम्प्रति अज्ञात है। पाणिनि के मत में शब्द तीन ही प्रकार के हैं—नाम, आख्यात और अव्यय।

वायु

१—श्री महाराज इस शब्द की रचना 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से मानते हैं। आप लिखते हैं—

(क) वा गतिगन्धनयोः इस धातु से वायु शब्द सिद्ध होता है। 'गन्धनं हिंसनम्। वाति सोऽयं वायुः चराचरं जगत् धारयति वा स वायुः' जो चराचर जगत् का प्रलय करे अथवा धारण करे और सब बलवानों से बलवान् होय उसी का नाम वायु है। (स. प्र. प्र. सं. पृ ५)

(ख) वा गतिगन्धनयोः इस धातु से वायु शब्द सिद्ध होता है। 'गन्धनं हिंसनं यो वाति चराचरं जगद्धरति (= जगद् हरति, जगद् धरति) बलिनां बलिष्ठः स वायुः' जो चराचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करता है और सब बलवानों में बलवान् है इससे उस ईश्वर का नाम वायु है। (स० प्र० पृ० ५ स्तं० १)

शंका—यहाँ यह विषय विवेचनीय है कि हिंसार्थक धातु से धारण करना अर्थ कहां से निकल आया तथा 'बलिनां बलिष्ठः' का निर्वचन से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—प्रथम आशङ्का का उत्तर तो यह है कि यद्यपि धातु का सम्बन्ध तो प्रलय से ही है तथापि प्रलय विना उत्पत्ति के हो नहीं सकता, अतः अविनाभाव सम्बन्ध के कारण उत्पत्ति का स्वयं ही ग्रहण हो जायगा। इसी दृष्टि से महाराज ने उपलक्षण परतया उत्पत्ति एवं स्थिति का उल्लेख भी कर दिया।

दूसरी आशंका का उत्तर है कि निरुक्तकार लिखते हैं 'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः' (निरु० ७।५)। आगे चलकर फिर कहते हैं 'या का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' (निरु० ७।१०)। आशय यह कि निरुक्त की दृष्टि से तीन ही देवता हैं—अग्नि, वायु या इन्द्र और सूर्य। यहाँ पर व्याख्याकारों ने अनेक तर्क उठाकर यह प्रमाणित कर दिया है कि वायु और इन्द्र यह दो नाम एक ही देवता के हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बल सम्बन्धी कार्य वायु का ही है। अतः श्री महाराज का वायु के सम्बन्ध में 'बलिनां बलिष्ठः' लेख सर्वथा समुचित है।

(ग) कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्' इस उणादिसूत्र (१।१) का व्याख्यान करते हुए वायु का निर्वचन 'वाति गच्छति जानाति वेति वायुः'

इस प्रकार किया है। यहाँ 'गच्छति' साधारण वायु की दृष्टि से है और 'जानाति' भगवान् की दृष्टि से।

२—**निरुक्तकार** इस शब्द को वी तथा इण् धातु से भी बनाते हैं। वे लिखते हैं—'**वायुर्वातेः, वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः, एतेरिति स्थौलाष्ठीविरनर्थको वकारः**' (निरु० १०-३)। यहाँ **यह** ध्यान रखना चाहिये कि आचार्य यास्क की दृष्टि आधिभौतिक तथा आधिदैविक है। इसी विचार से आध्यात्मिकता का निदर्शन कराने के लिए पृथक् दो अध्यायों का समावेश किया गया है। किन्तु उल्लिखित धातुओं से ईश्वर परक निर्वचन भी हो सकते हैं। वी धातु के अनेक अर्थ हैं। इनमें से दो अर्थ **व्याप्ति** तथा **प्रजनन हैं**। अब निर्वचन का स्वरूप होगा '**वेति व्याप्नोति प्रजनयति वा सर्वं जगत्** स **वायुः**' सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने से तथा सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने से भगवान् वायु कहाते हैं।

३—**वाल्मीकिरामायण** के सूर्यस्तव में आये वायु शब्द की व्याख्या करते हुए तिलककार लिखते हैं—'**वा गतिगन्धनयोः गतिर्ज्ञानं ज्ञापनं च ज्ञाता ज्ञापकश्च**'। इस प्रकार स्वयं सर्वज्ञ होने तथा वेदादिशास्त्रों के ज्ञापयिता होने से भगवान् वायु कहाते हैं।

४—**निम्बार्कसम्प्रदाय** के आचार्य वनमालिमिश्र ने वायु शब्द का भगवत्परक निर्वचन निम्न रूप से किया है—**वशब्दो बलवाची आयुरिति ज्ञानम् वश्चासावायुश्च वायुः बलज्ञानरूपो हरिः**। श्रु० सि० सं० पृ १०१।

अर्थात् बल स्वरूप तथा ज्ञान स्वरूप होने से भगवान् वायु कहे जाते हैं।

५—श्रुति कहती है '**बलमसि बलं मे धेहि**' (यजुः), '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तै० उ०)।

६—**वैदिक एन्थोलोजी** (Vedic Anthology) के कर्ता स्वामी भूमानन्द उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ १६९ पर **वा सुखाप्तिगतिसेवासु** लिखकर वा धातु के उल्लिखित अर्थ बताते हैं। तब वायु का अर्थ होगा '**वाति सुखयति सज्जनान् यद्वा वायते सेव्यते सर्वैर् इति वायुः**' अर्थात् सज्जनों के लिये सुखकारी होने से तथा सब के द्वारा सेवित होने से भगवान् वायु कहाते हैं। ध्यान रहे कि वा धातु के ये अर्थ धातुपाठान्तर के हैं।

वायु शब्द की ईश्वर-वाचकता—निम्न स्थल पर 'वायु' शब्द परमात्मा का वाचक है—

वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः।
सुतसोमा अहर्विदः। ऋ० १, १, २

हे वायो=संसार को उत्पन्न करने, प्रकाश स्वरूप होने, तथा सर्वत्र व्याप्त होने से वायु पद वाच्य भगवान् सुतसोमाः=सोमयाजी अहर्विदः=आपके अविनाशी स्वरूप को समझनेवाले जरितारः=स्तोतागण अच्छा उक्थेभिः=उत्तमोत्तम स्तोत्रों द्वारा त्वां जरन्ते=आपकी स्तुति करते हैं।

वायवे नमः

तैजस

१—श्री महाराज इस शब्द को तिज निशाने धातु से बनाते हैं। वे लिखते हैं—

(क) तिज निशाने इस धातु से तैजस शब्द सिद्ध होता है। अपने से आप ही प्रकाशित होय और सूर्यादिक तेजों का प्रकाश करनेवाला होय उसका नाम तैजस है। (स० प्र० प्र० सं० पृ ५)।

(ख) तिज निशाने इस धातु से तेजः और इससे तद्धित करने से तैजस शब्द सिद्ध होता है। जो स्वयंप्रकाश और सूर्यादिक तेजस्वी लोकों का प्रकाश करने वाला है इससे उस ईश्वर का नाम तैजस है। (स. प्र. पृ. ५ स्तं. २)

२—निघण्टु में तेजः शब्द किरणों के पर्याय में पढ़ा है। यज्वा महोदय इसको 'तिज निशाने' तथा 'तेज पालने' दोनों धातुओं से बनाते हैं। वे लिखते हैं 'तिज निशाने असुन् निश्यति तनूकरोति तमः पापं वा। यद्वा तेज पालने असुन् तेजति पालयति प्राणिनां प्रकाशप्रदानेन' अर्थात् अन्धकार वा पाप को नाश करने से अथवा प्रकाश देकर प्राणियों का पालक होने से किरणें तेज कहाती हैं। यज्वा महोदय के ये निर्वचन आधिदैविक दृष्टि से हैं, किन्तु 'तेजति=निश्यति तनूकरोति वा अज्ञानं पापं वेति तेजः' स्वार्थे अण् तैजसः परमात्मा, इस प्रकार यह शब्द परमात्मा का भी वाचक है।

३—तेजतीति तेजः=पालकं कर्मास्येति तैजसः। अर्थात् सर्व जगत् का पालक होने से भगवान् तैजस हैं।

४—वैयाकरणों ने 'तेजोविकारः तैजसः' ऐसा भी निर्वचन किया है, किन्तु यह निर्वचन लौकिक पदार्थों की दृष्टि से है, न कि भगवान् की दृष्टि से।

तैजसाय नमः

मकार से गृहीत नाम

श्री महाराज ने मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञ का ग्रहण किया है।

ईश्वर

१—श्री महाराज ने इस शब्द को ईश ऐश्वर्ये धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) ईश ऐश्वर्ये इस धातु से ईश्वर शब्द सिद्ध होता है। 'ईष्टे असौ ईश्वरः, सर्वैश्वर्यवान् यो भवेत् स ईश्वरः' जिसका सत्यविचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है इससे उस परमात्मा का नाम ईश्वर है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. ५)

(ख) ईश ऐश्वर्ये इस धातु से ईश्वर शब्द सिद्ध होता है 'य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्तते स ईश्वरः' जिसका सत्यविचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है इससे उस परमात्मा का नाम ईश्वर है। (स. प्र. पृ. ५ स्तं २)

प्रथम संस्करण के निर्वचनों के दो स्वरूप हैं—'ईष्टे असावीश्वरः, ईशनमैश्वर्यमस्मिन्नस्तीतीश्वरः। दोनों संस्करणों में 'जो सत्यविचारशील नाम सत्य जिसका ज्ञान है' तथा 'जिसका सत्यविचारशील ज्ञान' यह भाषा अंश इससे पूर्व लिखित संस्कृत का अर्थ नहीं, अपितु ईश्वर के विषय में न्यायतः प्राप्त तत्त्व है, जो यहाँ प्रसंगवश लिख दिया गया है। भगवान् का ऐश्वर्य निरवधिक है, इसमें किसी को आपत्ति नहीं। अतएव 'ईष्टे' का अर्थ सर्वैश्वर्यवान् किया गया है।

२—उपनिषत्कार कहते हैं—'अन्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनां बुद्धीन्द्रियनियन्तृत्वाद् ईश्वरः' अर्थात् अन्तर्यामी होने से ब्रह्मा से लेकर क्षुद्रकीटपर्यन्त जीवों की बुद्ध्यादि का नियमन करने से भगवान् ईश्वर कहाते हैं।

३—विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में लिखा है—'निरुपाधिकमैश्वर्यमस्येतीश्वरः, सर्वशक्तिमत्तयेश्वरः। आशय यह कि जिसका ऐश्वर्य निरुपाधिक अर्थात् निरवच्छिन्न अथवा जो सर्वशक्तिमान् है वह ईश्वर है। निरवच्छिन्न ऐश्वर्यवाला सर्वशक्तिमान् तो होगा ही।

४—(क) उणादिकार की दृष्टि से ईश्वर शब्द का निर्वचन है 'आशुः करोतीतीश्वरः' तथा धातु होगी 'अशूङ् व्याप्तौ'। वहाँ का सूत्र है—'अश्नोतेराशुकर्मणि वरट्' (५।५७)। इस प्रकार ईश्वर में आशुकर्तृत्व आता है।

(ख) कुछ वैयाकरण 'ईशितुं शीलमस्येतीश्वरः' ऐसा निर्वचन करते हैं[1], अर्थात् ईशण करना जिसका स्वभाव है।

(ग) एक निर्वचन यह भी हो सकता है 'ईशनात् रमणाच्च ईश्वरः' ईषण करने तथा जगन्निर्माण की क्रीड़ा करने से भगवान् ईश्वर कहाते हैं। कहा भी है—'क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः'।

ईश्वर शब्द का परमात्म-वाचकत्व—निम्न स्थल पर ईश्वर शब्द परमात्मा का वाचक है—

योऽसौ सर्वेषु वेदेषु पठ्यतेऽनद ईश्वरः।
अकार्यो निर्व्रणो ह्यात्मा तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(ऋक्परिशिष्ट २३–१८)

योऽसौ ईश्वरः = लोकलोकान्तरों के अधिष्ठाता होने से, अभिध्यानमात्र से उनकी रचना करने से, ईशनकर्ता होने से अथवा निरुपाधिक ऐश्वर्यवान् होने से जिन्हें ईश्वर कहते हैं वे भगवान् **सर्वेषु वेदेषु अनद इति पठ्यते** = सब वेद जिन्हें प्राणदाता, जीवनदाता अथवा सृष्टिकर्ता कहते हैं। उपनिषत् कहती है–'स उ प्राणस्य प्राणः' (केन २) अर्थात् वे प्राणों के भी प्राण हैं। **आत्मा** = जो सर्वव्यापक हैं, **अकार्यः** = नित्य हैं, **अव्रणः** = अविकारी हैं वे भगवान् **मे मनः** = मेरे मन को **शिवसंकल्पम्** = अच्छे विचारों वाला **अस्तु** = करें, बनावें। उपनिषत् कहती है—'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः' (केन २)। भगवान् श्रोत्र में श्रवणशक्ति, मन में संकल्पशक्ति, वाणी में वाक्शक्ति एवं प्राण में जीवनशक्ति का

---

१. स्थेशभासपिसकसो वरच् (अष्टा० ३।२।१७५) ईश + वरच्।

आधान करते हैं। अतः उनको छोड़कर और किससे मन को शुभसंकल्प वाला बनाने की प्रार्थना की जाय।

गीता में भी ईश्वर शब्द भगवान् के लिये प्रयुक्त हुआ है। वहां का लेख है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
गीता अ० १८ श्लो० ६१॥

ईश्वराय नमः

आदित्य

१—श्री महाराज ने आदित्य पद को अदिति शब्द से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) दो अवखण्डने इस धातु से दिति शब्द सिद्ध होता है 'अवखण्डनं नाम विनाशः' उससे क्तिन् प्रत्यय करने से दिति शब्द होता है। दिति किसका नाम है, जिसका विनाश होता है। उससे जब नञ् समास हुआ तब अदिति शब्द हुआ अदिति जिसका कभी नाश न होय। जो अदिति है वही आदित्य। (सं० प्र० प्र० सं० पृ० २६)

(ख) दो अवखण्डने इस धातु से अदिति और इससे तद्धित करने से आदित्य शब्द सिद्ध होता है। 'न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः अदितिरेवादित्यः' जिसका विनाश कभी न हो, उसी ईश्वर की आदित्य संज्ञा है। (सं० प्र० पृ० ५ स्तं० २)

आशङ्का—महाराज के इस लेख पर मुख्य आशंका यह है कि 'दित्य-दित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' (४-१-८५) सूत्र से अपत्यार्थ[1] में ण्य प्रत्यय होता है, ऐसा आचार्य पाणिनि का मत है, तब स्वार्थ में ण्य प्रत्यय कैसे होगा?

---

१. पाणिनि ने 'दित्यदित्यादित्य' आदि सूत्र से 'ण्य' प्रत्यय केवल अपत्य अर्थ में विधान नहीं किया, अपितु प्राग्दीव्यतीयार्थ में। 'तस्येदम्' अर्थ प्राग्दीव्यतीय है। शब्द का स्वार्थ भी 'तस्य-इदम्' उसका सम्बन्धी है। अतः यहां 'तस्येदं' (४।३।१२०) सूत्र से स्वार्थ में ण्य हो जाएगा। सम्पा०।

उत्तर—इस आशङ्का के निम्न उत्तर हैं—

(i) पाणिनि ने इस सूत्र द्वारा परमात्मा का वाचक आदित्य शब्द सिद्ध नहीं किया है। अतएव ईश्वर वाचक आदित्य शब्द के विषय में उक्त आशंका निर्मूल है।

(ii) सूत्रकार ने इसी सूत्र से आदित्य शब्द से भी तो ण्य प्रत्यय का विधान किया है। यह आदित्यपद अपत्यार्थक प्रत्यय के विना ही तो बना है न।

(iii) अपत्यार्थक प्रत्यय अपत्य अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी हुआ करते हैं, ऐसा प्राचीन आचार्यगण मानते चले आ रहे हैं। पूर्वमीमांसा के वेदापौरुषेयाधिकरण में **'बबरः प्रावाहणिरकामयत'** इस वाक्य में प्रावाहणि कोई प्रवाहण का पुत्र व्यक्तिविशेष नहीं है, यह प्रतिपादन करते हुए पूर्वमीमांसा के भाष्यकार आचार्य शबर लिखते हैं—**'इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धः तथा क्रियायामपि कर्तरि, तस्मात् यः प्रवाहयति, स प्रावाहणिः'**[१] (पू० मी० १-१-८-३०) अर्थात् अपत्यार्थक इञ् कर्ता अर्थ में भी होता है, इसी प्रकार अपत्यार्थक ण्य प्रत्यय स्वार्थ में हुआ है।

२—उपनिषत्कार भिन्न प्रकार से इसका निर्वचन करते हैं **'यस्मात्सर्वमादत्ते तस्मादादित्यः'**।[२] सबका आदान करने से भगवान् आदित्य कहाते हैं। यहाँ प्रथम **'आदानात् आदितिः तस्य भावः आदित्यः'** यह स्वरूप समझ लेना चाहिए। बृहदारण्यक में आङ् पूर्वक दद और इण् धातु से आदित्य बनाया है। वहाँ का निर्वचन है—**'ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति'** (बृह० ३-९-५)।

३—(क) निरुक्तकार ने भी आदित्य पद का निर्वचन किया है। वे लिखते हैं **'आदित्यः कस्मात् आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासेति'** (निरुक्त २।१३)। ये सब निर्वचन आदित्य पद का अर्थ सूर्य मानकर किये गये हैं। यहाँ अपत्यार्थ की चर्चा सर्वथा नहीं है, यह ध्यान देने की बात है। इनकी सम्मति में आदित्य पद आङ् पूर्वक दा तथा दीप धातु से बनता है।

---

१. इस इञ् से उपसर्ग और धातु दोनों को वृद्धि नहीं हो सकती। सम्पा०।
२. तुलना करो—यस्माद् सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च……। शाण्डिल्योप० ३।२।१ ॥ सम्पा०।

(ख) निघण्टु के दूसरे व्याख्याकार देवराज यज्वा निघण्टु में आये अदिति पद पर **'अदितिः = अदीना'** इस निरुक्त वाक्य तथा इसके स्कन्द भाष्य पर दृष्टि रखकर लिखते हैं—**'अदितिः दीङ् क्षये······अदितिः सकलप्रपञ्चधारणेऽप्यदीना न खिद्यते इत्यर्थः'** यज्वा महोदयने यह निर्वचन अदिति का अर्थ पृथ्वी मानकर किया है। किन्तु भगवान् भी इस सम्पूर्ण जगत् को धारण किये हुए हैं और फिर भी खिन्न नहीं होते, इसलिए भगवान् भी अदिति हैं और **'अदितिरेवादित्यः'** इस प्रकार स्वार्थ में प्रत्यय करके आदित्य पद बनेगा और इसका अर्थ भी भगवान् होगा।

४—विष्णुसहस्रनाम के—

(i) शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्यकार ने आदित्य पद के निम्न निर्वचन किये हैं—

(क) **अदितायाः अखण्डितायाः पतिः।**

(ख) **आदित्यसाधर्म्यात् आदित्यः।**

आशय यह कि भगवान् अपनी अखण्डता अविनाशिनी शक्ति के स्वामी हैं, इसलिए उन्हें आदित्य कहते हैं अथवा जैसे आदित्य सबका प्रकाशक है इसी प्रकार वे सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान के प्रकाशक हैं। इसलिये आदित्य पद भगवान् का वाचक है।

(ii) विशिष्टाद्वैत दृष्टिकोण के भाष्यकार आचार्य रङ्गनाथ भगवद्गुणदर्पण भाष्य में इस शब्द का निर्वचन चार प्रकार से करते हैं—

(क) **आदित्यः निवासोऽस्य इत्यादित्यः।**

(ख) **एतीत्यादित्यः।**

(ग) **अत्तीत्यादित्यः।**

(घ) **आता इत्यः आदित्यः।**

इनमें से प्रथम निर्वचन का आधार **'य एषो ऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते'** (छा० १-१-६) यह उपनिषद् वचन तथा **'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्'** (ब्र० सू० १-१-२१) यह ब्रह्म सूत्र है। तृतीय निर्वचन का आधार **'सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्, सर्वस्यैवात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमदितेरदितित्वं वेद'** (शत० १०-६-५-५) यह ब्राह्मण वचन है।

प्रथम निर्वचन सर्वांश में अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से किया गया है। इसका आशय है—ध्येयत्वेन आदित्य जिनका निवास स्थान है इसलिये भगवान् आदित्य कहाते हैं। इसी दृष्टि से आदित्यहृदय स्तोत्र में—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतपीतवासा ॥

इस प्रकार ध्येयता कही है।

द्वितीय निर्वचन भगवान् का ज्ञातृत्व तथा व्यापकत्व बताता है, तृतीय प्रलयकर्तृत्व और चतुर्थ निर्वचन कहता है कि ज्ञानवान् ही भगवान् को पा सकते हैं।

५—वाल्मीकि रामायण में आये आदित्यहृदय स्तोत्रान्तर्गत आदित्यपद का व्याख्यान करते हुए तिलककार ने औपचारिक पुत्र भाव का आरोप करके बड़ा उत्तम निर्वचन किया है। आप लिखते हैं—**'दितिर्नाशो न विद्यते यस्या सा अदितिर्ब्रह्मविद्या तस्याः पुत्रः तल्लभ्यत्वात् आदित्यः'**। आशय यह कि—अदिति नाम है ब्रह्मविद्या का और भगवान् इसके द्वारा ज्ञेय हैं अतः ज्ञेयत्वेन पुत्रत्व का उपचार करके आदित्य पद सिद्ध होगा और इसका अर्थ है भगवान्।

आदित्यपद परमात्मवाची—निम्न स्थल पर आदित्य शब्द परमात्मा का वाचक है—

बण्महां असि सूर्य बडादित्य महां असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महां असि ॥

यजु. ३३–३९

हे **सूर्य** = चराचर जगत् के उत्पादक होने से सूर्य कहाने वाले भगवान् **बट्** = यथार्थ में आप **महान्** **असि** = बड़े हैं पूजनीय हैं। हे **आदित्य** = अविनाशी = होने अथवा आत्मा द्वारा प्राप्य होने से आदित्य कहानेवाले परमेश्वर आप **बट्** = वास्तव में **महान्** **असि** = महान् है। क्योंकि सम्पूर्ण जगत् के उत्पत्ति प्रलय जैसा दुष्कर कार्य भी आप निमेष भर में करते हैं। अत एव **महः** = तेजः स्वरूप **ते** = आप की **महिमा** **पनस्यते** = स्तुत होती

है। हे देव = प्रकाशस्वरूप भगवन् आप अद्धा महान् असि = वास्तव में महान् है। आशय यह कि आप से बढ़कर महिमाशाली कोई नहीं है।

आदित्याय नमः

प्राज्ञ

१—श्री महाराज इस शब्द को ज्ञा अवबोधने धातु से बनाते हैं। वे लिखते हैं—

(क) ज्ञा अवबोधने धातु है उससे प्राज्ञ शब्द सिद्ध हुआ है 'प्रकृष्टश्चासौ ज्ञश्च प्रज्ञः प्रज्ञ एव प्राज्ञः' जो ज्ञानी और सब ज्ञानियों में उत्तम ज्ञानवान् है उसका नाम प्राज्ञ है। 'प्रजानाति वा चराचरं जगत् स प्रज्ञः प्रज्ञ एव प्राज्ञ,' सब पदार्थों को जो यथावत् जानता है उसका नाम प्राज्ञ है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. ६)

(ख) ज्ञा अवबोधने प्रपूर्वक इस धातु से प्रज्ञ और इससे तद्धित करने से प्राज्ञ शब्द सिद्ध होता है 'यः प्रकृष्टतया चराचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः प्रज्ञ एव प्राज्ञः' जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त सब चराचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है इससे ईश्वर का नाम प्राज्ञ है। (स. प्र. पृ. ५ स्तं २)

२—प्राज्ञ शब्द के निम्न निर्वचन भी हैं—

(क) प्रज्ञा अस्यास्तीति प्राज्ञः' यह निर्वचन वैयाकरणों का है।

(ख) प्रकृष्टा ज्ञा यस्य स प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः' अर्थात् जिनमें उत्कृष्टज्ञान विद्यमान है।

प्राज्ञाय नमः

इस प्रकार इस प्रकरण में ९ नामों का व्याख्यान करके महाराज लिखते हैं—

'जैसा कि परमेश्वर का ओंकार उत्तम नाम है वैसा कोई भी नहीं। इसका बहुत थोड़ा अर्थ किया गया है क्योंकि ओंकार की

व्याख्या से और बहुत से अर्थ लिये जाते हैं। यह ओंकार का नव नामों से अर्थ किया गया, वे नव नाम परमेश्वर के ही हैं।

आशय यह कि ओंकार से अनेक नामों का ग्रहण होता है, उनमें से नव का ही यहाँ व्याख्यान किया है।

इति श्रीविनोदिन्याख्यायामष्टोत्तरशत-
नाममालिकाव्याख्यायाम्
द्वितीयं प्रकरणम्

प्रकरण २ नाम संख्या ९
पूर्वागत १
पूर्ण संख्या १०

तृतीय प्रकरण

सत्यार्थप्रकाशके प्रारम्भ में पठित मन्त्रान्तर्गतनाम

पूर्व उल्लिखित नव नामों के पश्चात् अग्रिम विभाग निम्न आठ नामों का है—

मित्र	वरुण	अर्यमा	इन्द्र
बृहस्पति	विष्णु	उरुक्रम	ब्रह्म

ये नाम सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ में पठित **'शं नो मित्रः शं वरुणः'** आदि मन्त्र में निर्दिष्ट हैं।

मित्र

१—श्री महाराज ने इस शब्द को ञिमिदा स्नेहने धातु से बनाया है—

(क) आपने स० प्र० प्र० सं में यह तो लिखा है कि मित्र शब्द ईश्वर का वाचक है, किन्तु न तो उसका निर्वचन ही किया है और न उसे १०० नामों में ही गिना है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० ७)

(ख) ञिमिदा स्नेहने इस धातु से क्त्र प्रत्यय होने से मित्र शब्द सिद्ध होता है 'मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः' जो सबसे स्नेह करके और सबको प्रीति करने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम मित्र है (स० प्र० पृ० ६ स्तं १)

२—निरुक्तकार इस शब्द को अलग अलग तीन धातुओं से निर्वचन करके बनाते हैं। वे लिखते हैं—**'मित्रः प्रमीतेस्त्रायते, सम्मिन्वानो द्रवति, मेदयतेर्वा'** (निरुक्त–१०-२१) तब निर्वचनों के स्वरूप होंगे—

(क) **प्रमीतेस्त्रायते इति मित्रः'** यहां हिंसार्थक मीङ् या मीञ् धातु से प्र उपसर्ग लगकर बना है प्रमीतेः = दुःखात् अर्थात् दुःख से रक्षा करने के कारण मित्र कहाता है।

(ख) **मिन्वानो द्रवति'** इस निर्वचन में यह शब्द 'मिवि सेचने' तथा 'द्रु गतौ' से बनेगा। तब अर्थ होगा सिञ्चन करता हुआ चलता है। इनकी दृष्टि से मित्र शब्द सूर्य तथा मेघ का वाचक है। सूर्य वृष्टि का हेतु बनकर तथा

ओषधि आदि पकाकर जीवन का हेतु बनता है। मेघ बरसता हुआ वायु वेग से इधर से उधर उड़ा उड़ा फिरता है। अध्यापक चन्द्रमणि ने निरुक्त का व्याख्यान करते हुए प्रथम निर्वचन में मृङ् तथा त्रैङ् धातु मानी हैं। ऐसी अवस्था में निर्वचन का स्वरूप होगा **'मरणात् मृत्योर्वा त्रायते'**। यह निर्वचन पृथक् रूप से शुद्ध होने पर भी निरुक्त व्याख्यान की दृष्टि से शुद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निरुक्तकार लिखते हैं 'प्रमीतेः'। यह पद मृङ् धातु से बन ही नहीं सकता।

उक्त आधिभौतिक निर्वचनों में से प्रथम भगवत्परक भी हो सकता है। प्रमीतिः = **कृच्छ्रं कष्टं वा ततः त्रायते इति।'** वस्तुतः भगवान् ही सबकी कष्ट से रक्षा करते हैं।

३—निरुक्तसमुच्चय के रचयिता वररुचि इस शब्द का निर्वचन अत्यन्त विभिन्न प्रकार से करते हैं। वे लिखते हैं—**मात्वा निर्माय कृत्स्नं जगत् त्रायत इति मित्रः'** (नि० स० पृ० २५) सम्पूर्ण जगत् कीं रचना करके उसका त्राण करने से भगवान् मित्र कहाते हैं।

५—मित्र शब्द के निम्न निर्वचन भी हो सकते हैं—

(क) **माति परिमापयति इति मित्रम्'** जो सब संसार को मापे हुए हैं, इससे भगवान् मित्र कहाते हैं

(ख) **मितं कर्मफलं राति ददातीति मित्रः'** कर्म फल के देने से भगवान् मित्र हैं।

मित्र शब्द की भगवत्परकता—निम्न स्थल पर मित्र शब्द भगवान् का वाचक है—

मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥

ऋक् ३. ५९. १

मित्रः = कष्टों तथा दुःखों से रक्षा करने वाले भगवान् **ब्रुवाणः** = वेद का उपदेश देकर **जनात् यातयति** मनुष्यों को शुभकर्म करने के लिये प्रेरित करते हैं। भगवान् ने कहा ही है—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'** (यजु ४०-२)। **मित्रः** = जगत् का निर्माण और उसकी रक्षा करने वाले भगवान् **पृथिवीम् उत द्यां दाधार** = पृथिवी आकाशादि सम्पूर्ण जगत् का पोषण

और धारण किये हुए हैं। मित्रः = शुभाशुभ कर्मों का फल देने वाले भगवान् अनिमिषा = भली भांति कृष्टीः = कर्म करने वाले मनुष्यों को अभिचष्टे = देखते हैं। ऐसे मित्राय = मित्र के लिये परमेश्वर के लिए घृतवत् हव्यं जुहोत = घृत तथा हविष्य का प्रदान करो अर्थात् यज्ञ आदि शुभ कर्मों द्वारा भगवान् की परिचर्या करो ॥

मित्राय नमः

वरुण

१—श्री महाराज ने इस शब्द को वृञ् वरणे तथा वर ईप्सायाम् इन दो धातुओं से बना माना है। आप लिखते हैं—

(क) वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम् इन दो धातुओं से वरुण शब्द सिद्ध होता है 'वृणोति सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् मुक्तान् धर्मात्मनो यः स वरुणः अथवा व्रियते शिष्टैः मुमुक्षुभिः मुक्तैः धर्मात्मभिः यः स वरुणः परमेश्वरः' जो वृणोति नाम स्वीकार करता है शिष्ट मुमुक्षुओं और धर्मात्माओं को उसका नाम वरुण है। सो वरुण नाम परमेश्वर का है। व्रियते नाम शिष्टादिक जिसका स्वीकार करते हैं उसका नाम वरुण है अथवा वरयति नाम जो सबको प्राप्त हो रहा है उसका नाम वरुण है वर्यते नाम और जो सब श्रेष्ठ लोगों को प्राप्त होने योग्य होय उसका नाम वरुण है और यह भी अर्थ होता है कि वरुणो नाम वरः वरो नाम श्रेष्ठः जो सभों से श्रेष्ठ होय उसका नाम, वरोवरः परमेश्वर ही है और दूसरा कोई भी नहीं। (स० प्र० प्र० सं० पृ० ७)

(ख) वृञ् वरणे वर ईप्सायाम् इन दो धातुओं से उणादि उनन् प्रत्यय होने से वरुण शब्द सिद्ध होता है 'यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिः धर्मात्मभिः व्रियते वर्यते वा स वरुणः परमेश्वरः' जो आत्मयोगी विद्वान् मुक्ति की इच्छा करने वाले और धर्मात्माओं को जो स्वीकार करता अथवा जो शिष्ट मुमुक्षु और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है वह ईश्वर वरुण संज्ञक है। अथवा वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः जिसलिये परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है इसीलिये उसका नाम वरुण है। (स० प्र० पृ० ६ स्तं० १)

आशय यह कि वरणीय ईप्सिततम होने से तथा सर्वश्रेष्ठ होने से भगवान् वरुण कहाते हैं।

२—निरुक्तकार ने भी वरुण शब्द का निर्वचन 'वृणोतीति सतः (निरु० १०.४) लिखकर वृञ् वरणे से ही माना है। किन्तु इस शब्द का अर्थ अपनी दृष्टि के अनुसार सूर्य और विद्युत् किया है।

३—इस शब्द की रचना चुरादिगणीय 'वृञ् आवरणे' धातु से भी हो सकती है। तब निर्वचन होगा **वारयतीति वरुणः** यह निर्वचन मेघ परक है। नभःस्थल अथवा सूर्य का आवरण = अच्छादन करने से मेघ को वरुण कहते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् को आवास्य करने से भगवान् भी वरुण है।

४—एक लेख यह भी है—

वरं वृणन्ति तं देवा वरदश्च वरार्थिनाम्।
धातुर्वै वरणे प्रोक्तः तस्मात् स वरुणः स्मृतः॥

इसी आशय से महाराज ने लिखा है **'शिष्टैर्मुमुक्षुभिः धर्मात्मभिः व्रियते'** देव अर्थात् शिष्ट मनुष्य मुमुक्षु धर्मात्मा जिस का वरण करते हैं, जिससे वर मांगते हैं।

वरुण पद भगवत्परक—निम्न मन्त्र में वरुण शब्द भगवान् का वाचक है—

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥ ऋ. ५-८५-२

वरुणः-वरणीय होने से, सम्पूर्ण जगत् का आवरण करने से, मुमुक्षु तथा धर्मात्माओंका वरण करने से वरुण नामधारी भगवान् ने **वनेषु** = वनों में **अन्तरिक्षम्** = विविध प्रकार के पुष्पफलादि का **वितताम** = विस्तार किया है। **अर्वत्सु** = मनुष्यों में **वाजः** = वीर्य का **वितताम** = विस्तार किया है। शतपथ कहता है—**वीर्यं वै वाजः पुमांसोऽर्वन्तः'** (शत. ३.३.४.७) **उस्रियासु** = गायों में **पयः** = दूध का विस्तार किया है। **हृत्सु** = मनुष्यों के हृदय में **क्रतुम्** = संकल्प विकल्प करने वाले मन को **विदधत्** = निहित किया है। **विक्षु** = प्रजाओं में **अग्निम्** = अग्रणी नेता राजा की स्थापना की है। **दिवि** = अन्तरिक्ष में **सूर्यम्** = सम्पूर्ण संसारचक्र को कार्य में प्रेरित

करने वाले सूर्यका स्थापना किया है। अद्रौ = मेघों में सोमम् = जल का आधान किया है। आशय यह कि भगवान् ने सम्पूर्ण जगत् की रचना करके उसे आवृत कर रक्खा है।

वरुणाय नमः

अर्यमा

१—श्री महाराज की सम्मति में इस शब्द की रचना ऋ गतिप्रापणयोः तथा अर्य पूर्वक माङ् माने इन दो धातुओं से है। आप लिखते हैं—

(क) ऋ गतिप्रापणयोः इस धातु से अर्यमा शब्द सिद्ध होता है जो सभों के कर्मों की यथावत् व्यवस्था को जाने और पाप पुण्य करने वालों को यथावत् पाप और पुण्य की प्राप्ति का सत्य सत्य नियमन करै उसी का नाम अर्यमा। (स. प्र. प्र. सं. पृ० ८)

इस भाषा की दृष्टि से निर्वचन होगा–'**ऋच्छति मनुष्याणां शुभाशुभानि कर्माणि जानाति अथ च तेभ्यस्तेषां फलानि प्रापयतीत्यर्यमा**'। ऐसा निर्वचन होने पर यह शब्द ऋ धातु से मनिन् प्रत्यय होकर निपातन से सिद्ध होगा।

(ख) ऋ गतिप्रापणयोः इस धातु से यत् प्रत्यय करने से अर्य शब्द सिद्ध होता है और अर्य पूर्वक माङ् माने धातु से कनिन् प्रत्यय होने से अर्यमा शब्द सिद्ध होता है। योऽर्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यवान् करोति सोऽर्यमा। (स. प्र. पृ. ६ स्तं. १)

२— **श्वन्-उक्षन्-पूषन्** इत्यादि उणादिसूत्र (१।१५९) का व्याख्यान करते हुए महाराज ने एक निर्वचन और किया है। आप लिखते हैं— '**अर्यं स्वामिनं मिमीते मन्यते जानातीति वा अर्यमा**' शुभाशुभ कर्मों के ज्ञानपूर्वक फलप्रदाता होने से, शुभाशुभ कर्मों को जानकर फलांश में उनका नियमन करने से, सत्यवक्ता न्यायकारी मनुष्यों को सन्मान प्रदान कर्ता होने से भगवान् अर्यमा कहाते हैं।

३—ब्राह्मणकार लिखते है—**अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति**' (तै० ब्रा० १।१।२।४)। आशय यह कि जो दाता है सो अर्यमा है। तब निर्वचन होगा '**अरं यच्छतीत्यर्यमा**' (तै. ब्रा. १।१।२।४) सर्व कर्मफलप्रदाता भगवान् ही हैं यह असंदिग्ध सत्य है।

४—वैयाकरण अर्यमा का निर्वचन 'ऋ गतौ' जुहोत्यादिगणी धातु से करते हैं। तब निर्वचन का स्वरूप होगा 'इयर्तीत्यर्यमा'। इस अवस्था में सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक होने से भगवान् अर्यमा है। क्योंकि गति से ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति गृहीत होती हैं।

अर्यमा पद ईश्वरवाची—निम्न स्थल पर अर्यमा शब्द भगवान् का वाचक है—

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः॥

अथर्व १४।१।१७॥

हम **पतिवेदनम्** = रक्षक तथा ज्ञानदाता, **सुबन्धुम्** = भलीप्रकार जगत् का प्रबन्ध करने वाले अथवा प्राणिमात्र के शोभन बन्धु **अर्यणम्** = शुभाशुभ कर्मों के फलप्रदाता होने से, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक होने से, सबका नियमन करने से अर्यमा नाम से प्रसिद्ध भगवान् का **यजामहे** = पूजन करते हैं। **बन्धनात् उर्वारुकमिव** = बन्धन से खर्बूजे के सदृश **इतः प्रमुञ्चामि** = यहाँ से इस संसार के बन्धन से अपने आपको पृथक् करता हूँ **अमुतः न** = उस परमात्मा से नहीं।

एक भक्त कवि ने क्या ही उत्तम कहा है—

मोहूं दीजै मोष ज्यों अनेक अधमन दियो।
जो बांधेही तोष तो बांधिय अपने गुननि॥

कवि भगवान् से प्रार्थना करता है कि जैसे आपने अन्य अनेक अधमों को मोक्ष दिया है वैसे ही मुझे भी मोक्ष दीजिये। किन्तु यदि आप मेरी अधमता देख कर मेरा छुटकारा नहीं करना चाहते है, मुझे बन्धन में ही रखना चाहते हैं तो अपने गुणों से बाँधकर रखिये। यह बन्धन मुझे प्रसन्नता पूर्वक स्वीकृत है, किन्तु इधर के बन्धन से तो छुड़ा ही दीजिये।

अर्यम्णे नमः

इन्द्र

१—श्री महाराज ने इस शब्द को इदि परमैश्वर्ये धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) इदि परमैश्वर्ये इस धातु से इन्द्र शब्द की सिद्धि होती है 'इन्दति परमैश्वर्यवान् यो भवति स इन्द्रः' जिसका परमैश्वर्य होय उससे अधिक किसी का भी ऐश्वर्य न होवे उसका नाम इन्द्र है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. ८)

(ख) इदि परमैश्वर्ये इस धातु से रन् प्रत्यय करने से इन्द्र शब्द सिद्ध होता है 'य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः' जो अखिल ऐश्वर्य युक्त है इससे उस परमात्मा का नाम इन्द्र है। (स. प्र. पृ. ६ स्तं. २)

२—उणादिकोष के 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र' (२।२८) आदि सूत्र की व्याख्या करते हुए आपने लिखा है—'इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति इति इन्द्रः समर्थोऽन्तरात्मादित्यो योगो वा'। यहाँ भी इन्द्र का अर्थ अन्तरात्मा या भगवान् बताया है। सारांश यह कि ऐश्वर्य की चरमसीमा भगवान् में ही है, अतः वे इन्द्र हैं।

३—निरुक्त में इन्द्र शब्द के १३ निर्वचन दिये हैं, जिनमें से प्रथम आठ निम्न हैं—

(i) इरां दृणातीति।	(v) इरां दारयते इति।
(ii) इरां ददातीति।	(vi) इन्दवे द्रवतीति।
(iii) इरां दधातीति।	(vii) इन्दौ रमते इति।
(iv) इरां धारयते इति।	(viii) इन्धे भूतानीति।

ये आठ निर्वचन यास्क के अपने हैं, तथा आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से किये गये हैं। शेष पाँच निर्वचन विभिन्न आचार्यों के हैं। इन निर्वचनकर्ताओं का दृष्टिकोण सम्भवतः आध्यात्मिक भी रहा होगा।

इनमें से प्रथम निर्वचन है—

(i) इदं करोतीत्याग्रायणः। इसलिये निर्वचन का स्वरूप होगा 'इदं सर्वं करोतीतीन्द्रः' भगवान् सर्वकर्ता हैं ही। उपनिषद् भी कहती है द्यावा भूमी जनयन् देव एकः (श्वेता० ११३)।

(ii) (क) इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः। औपमन्यव अर्थात् आचार्य उपमन्यु के पुत्र अथवा सम्प्रदायानुयायी कहते हैं 'इदं पश्यतीतीन्द्रः'। आशय यह कि द्रष्टा होने से भगवान् इन्द्र कहाते हैं। उपनिषत् कहती है

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृह. ३।७।२३), 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता. ६।११) ।

(ख) यह निर्वचन जीवात्मा परक भी हो सकता है । इन्द्र नाम आत्मा का भी है । आत्मा को इन्द्र क्यों कहते हैं, इस विषय में एक ब्राह्मण वाक्य है—'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत् इदमदर्शमिति, तस्मात् इदन्द्रो नाम, इदन्द्रो ह वै नाम तस्मादिदन्द्रं सन्तम् इन्द्र इत्याचक्षते' (ऐ० ब्रा० ३।१३) । इस वाक्य का संक्षिप्त रूप है 'इदं दर्शनात् इन्द्रः' ।

(iii) इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः । यह निर्वचन वैयाकरणों का है । 'इन्दतीति इन्द्रः । ऐश्वर्य की पराकाष्ठा भगवान् में है इसलिये वे इन्द्र कहाते हैं ।

(iv) इन्दन् शत्रूणां दारयिता वा द्रापयिता वा । यह निर्वचन राजा की दृष्टि से किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है ।

(v)आदरयिता यज्वनाम् । यह निर्वचन याज्ञिकों का है । इसमें पूर्व-निर्वचन से 'इन्दन्' शब्द की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये ऐसा व्याख्याकारों का मत है । तब निर्वचन का स्वरूप होगा 'इन्दन् आदरयिता यज्वनाम्', तथा शब्दार्थ होगा 'ऐश्वर्य देकर विधिपूर्वक यज्ञ करने वालों का आदर करने वाला इन्द्र कहाता है । लौकिक दृष्टि में दान-दक्षिणा देकर याज्ञिकों का आदर करने वाले यजमान इन्द्र हैं । एवं पारमार्थिक दृष्टि से यज्ञ का फलस्वरूप ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले भगवान् भी इन्द्र हैं ही ।

४—'इदं सर्वं राति = आदत्ते प्रलये इतीन्द्रः' । यह भी एक निर्वचन है ।

ईश्वरवाचक इन्द्र पद का प्रयोग—निम्न स्थल पर इन्द्र शब्द ईश्वर का वाचक है—

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः इन्द्रो अपाम् इन्द्र इत्पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणाम् इन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ॥

ऋ. १०–८९–१०

इन्द्रः = परमशक्तिशाली भगवान् पृथिव्या दिव ईशे = पृथिवी तथा आकाश का नियमन करने वाले हैं, इन्द्रः = सर्व द्रष्टा भगवान् पर्वतानाम-पामीशे = मेघान्तवर्ती जल के भी नियन्ता हैं, इन्द्रः = संसार की रचना करने वाले भगवान् वृधामीशे = बड़े से बड़े सूर्य चन्द्रादि लोकों के भी नियामक हैं क्योंकि उन्हीं ने उनको बनाया है, इन्द्रः = यज्वा मनुष्यों का आदार करने वाले भगवान् मेधिराणामीशे = यष्टाओं के प्रभु हैं, योगे क्षेमे = अलब्ध लाभ

तथा लब्ध की संरक्षा के लिये **इन्द्र इत्** = सब ऐश्वर्य के प्रदाता भगवान् ही हव्यः = पुकारने योग्य हैं। आशय यह कि सम्पूर्ण स्थावर जंगमात्मक जगत् के अधिष्ठाता तथा रक्षक भगवान् ही हैं और अपने योगक्षेम के लिए हमें भगवान् को ही पुकारना चाहिये।

इन्द्राय नमः

बृहस्पतिः

१—श्री महाराज इस शब्द को बृहत् तथा पति इन दो शब्दों से मिलाकर बनाते हैं। आप लिखते हैं :—

(क) बृहत् शब्द है इसके आगे पति शब्द का समास है 'बृहताआकाशादीनां पतिः स बृहस्पतिः' जो बड़ों से भी बड़ा और सब आकाशादिक और ब्रह्मादिकों का स्वामी है उसका नाम बृहस्पति है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० ८)

(ख) बृहत् शब्द पूर्वक पा रक्षणे इस धातु से डति प्रत्यय बृहत् के तकार का लोप और सुडागम होने से[1] बृहस्पति शब्द सिद्ध होता है 'यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता वा स बृहस्पतिः' जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है उससे परमेश्वर का नाम बृहस्पति है। (स० प्र० पृ० ६ स्तं० २)

यहाँ महाराज ने बृहस्पति शब्द के तीन अर्थ किये हैं—

(i) बड़ों से भी बड़ा।

(ii) आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी।

(iii) ब्रह्मादिकों का स्वामी।

अब इन तीनों अर्थों पर विचार किया जाता है—

(i) निरुक्तकार बृहत् पद का अर्थ करते हुए लिखते हैं 'बृहदिति महतो नामधेयम् परिबृढं भवति' (नि० १-७)। परिबृढ शब्द

---

1. द्र०—तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च। महाभाष्य ६।१।१५७॥ इस शब्द के निर्वचन सम्बन्धी पाश्चात्य मत के निराकरण के लिए हमारे 'वैदिकस्वरमीमांसा' ग्रंथ का अ० ८ (पृ० ८७, प्र० सं०) देखना चाहिये।

के विषय में पाणिनि कहते हैं **'प्रभौ परिबृढः'** (७-२-२१) अर्थात् परिबृढ का अर्थ है प्रभु वा पति। इस प्रकार बृहस्पति का अर्थ हुआ बड़ों से भी बड़ा।

(ii) जड़ पदार्थों में आकाश, काल, दिक् आदि महान् हैं और ब्रह्माण्ड भी महान् है। इन बड़ों के पालक रक्षक भगवान् बृहस्पति हैं। इस प्रकार वे आकाशादि ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं।

(iii) चेतनों में ब्रह्मा सबसे बड़े हैं वे महान् हैं, पूज्य हैं, क्योंकि वे चारों वेदों के प्रवक्ता सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले महापुरुष हैं। उपनिषत् कहती है **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'** (श्वेता० ६-१८)। इन ब्रह्मा को उत्पन्न करके वेद का ज्ञान देनेवाले भगवान् ब्रह्मा से बड़े तो हैं ही। आशय यह कि जड़ चेतन जगत् में सबसे बड़े तथा सबसे पूजनीय होने से भगवान् बृहस्पति हैं।

२—(क) पति का अर्थ योग क्षेम करने वाला भी होता है। जैसाकि **'सात्वतां पतिः'** की व्याख्या करते हुए विष्णुसहस्रनाम के शांकर सम्प्रदाय की व्याख्या में लिखा है—**'तेषां पतिः = योगक्षेमंकरः'** योग का अर्थ होता है अलब्ध का लाभ, और क्षेम का अर्थ है लब्ध की रक्षा। इस प्रकार **'बृहतां ब्रह्माण्डानां पतिः योगक्षेमंकरः बृहस्पतिः'** भगवान् ही ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यंत समस्त चराचर के संरक्षक हैं।

(ख) पति शब्द **पा पाने** से भी बन सकता है। तब **'बृहतः—ब्रह्मणः तृणपर्यन्तान् लोकान् पिबति विनाशकाले इति बृहस्पतिः'** अर्थात् विनाश काल में बड़े से बड़े लोक लोकान्तरों का संहारक, अपने में लीन करने वाला होने से भगवान् बृहस्पति हैं।

बृहस्पति पद का ब्रह्मार्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में बृहस्पति शब्द भगवान् का वाचक है—

बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चात् उतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु॥

ऋक् १०-४२-११

बृहस्पति = ब्रह्मा तथा ब्रह्माण्ड के पति, महती वेदवाणी के स्वामी भगवान् **पश्चात् उत उत्तरस्मात् अधरात्** = उत्तर पश्चिम तथा ऊपर नीचे अर्थात् सब ओर से, **अघायोः** = पापियों से बाह्य तथा आभ्यन्तर शत्रु कामादि

से, नः परिपातु = हम प्रपन्नों की रक्षा करें। इस प्रकार बाह्य तथा आभ्यन्तर शत्रुनाश के मुख से रक्षा की प्रार्थना करने के पश्चात् भक्त अपने अभ्युदय निःश्रेयस के लिये कहता है—सखा = मित्रवत् परमहितकारी, इन्द्रः = परमैश्वर्य के प्रदाता भगवान्, सखिभ्यः = अपने समान हम जीवात्माओं को, वरिवः = अत्यन्त वरणीय अभीप्सित ऐहलौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय निःश्रेयस फल का, कृणोतु = सम्पादन करें। आशय यह कि भगवान् बाह्य तथा आभ्यन्तर शत्रुओं से हमारी रक्षा करें तथा शरण में आये हम लोगों को अभ्युदय एवं निःश्रेयस का मार्ग दिखावें॥

बृहस्पतये नमः

विष्णु

१—श्री महाराज ने इस शब्द को विष्लृ व्याप्तौ धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) विष्लृ व्याप्तौ इस धातु से विष्णु शब्द सिद्ध हुआ है 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः' जो सब जगत् में व्यापक होय वही विष्णु है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० ८)

(ख) विष्लृ व्याप्तौ इस धातु से नु प्रत्यय होकर विष्णु शब्द सिद्ध हुआ है 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः'। (स० प्र० पृ० ६ स्तं० २)

२—निरुक्तकार ने (१२।१८) विष्णु शब्द को विपूर्वक षिञ् बन्धने, विश प्रवेशने तथा विपूर्वक अशूङ् व्याप्तौ धातु से बनाया है। वहां का लेख है—

'अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुरिति' यहां विपूर्वक षिञ् धातु है। निर्वचन का स्वरूप होगा—'विषिनोति, विषिनाति वा स विष्णुः'। 'विष्णुर्विशतेर्वा' यहां धातु विश प्रवेशने है। निर्वचन का स्वरूप होगा—'विशतीति विष्णुः'।

व्यश्नोतेर्वा (निरु० १२।१८) यहां विपूर्वक अशूङ् धातु है। निर्वचन का स्वरूप होगा—**'व्यश्नुते इति विष्णुः'**। निरुक्तकार ने ये निर्वचन विष्णु का अर्थ सूर्य मानकर किये हैं। किन्तु ईश्वरपरक भी ये निर्वचन हो सकते हैं। **विविधैः कर्मभिः तत्फलैश्च सिनोति जीवान् इति विष्णुः'** अर्थात् कर्म तथा कर्मफल के बन्धन में डालने से भगवान् विष्णु हैं। **'विशति सर्वस्य ब्रह्माण्डस्यान्तः प्रविशति यद्वा व्यश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगद् इति विष्णुः'** सम्पूर्ण जगत् के भीतर बाहर सर्वत्र व्यापक होने से भगवान् विष्णु हैं। श्रुति कहती है—स'**ओतः स प्रोतश्च विभूः प्रजासु'** (यजुर्वेद ३२।८)।

३—विष्णुसहस्रनाम के शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में **'वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः, विषेर्व्याप्त्यभिधायिनो नुक्प्रत्ययान्तस्य रूपम्'** लिखकर शब्द की रचना तो विष्लृ व्याप्तौ धातु से ही मानी है, किन्तु व्यापकता निरवच्छिन्न ग्रहण की है। इसीलिये निष्कृष्टार्थ लिखा है **'देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्य इत्यर्थः'**।

इसका अभिप्राय यह है कि व्यापकता होती है परिच्छेदशून्यता। परिच्छेद तीन प्रकार का होता है—१. देशपरिच्छेद, २. कालपरिच्छेद, ३. वस्तुपरिच्छेद।

देशपरिच्छेद—एकदेशी वस्तुएं देशपरिच्छिन्न हैं, क्योंकि वे कहीं हैं तो कहीं नहीं भी हैं। जैसे घट, पट आदि पदार्थ। जो घड़ा जब यहां है वह उसी समय दूसरे स्थान पर नहीं है। इसी का नाम है एकदेशिता (एकदेशी होना)। इसके विरुद्ध है आकाश, वह, यहां वहां सब जगह है अतः वह सर्वदेशी है। इसी प्रकार ईश्वर भी सर्वदेशी है, देशपरिच्छेदशून्य है। देशपरिच्छेदशून्य पदार्थ सर्वव्यापक हुआ करते हैं।

कालपरिच्छेद—विनाशी या नाशवान् वस्तुएं कालपरिच्छिन्न होती हैं, क्योंकि वे सदातन नहीं हैं। कभी होती हैं कभी नहीं। किसी काल में होना और किसी काल में न होना ही कालपरिच्छेद है। घट पट आदि पदार्थ ऐसे ही हैं। वे कभी विद्यमान होते हैं कभी नहीं; कभी नहीं थे फिर हो गये। किन्तु आकाश सदातन है, ऐसा नहीं कि कभी था और कभी नहीं होगा। इसी प्रकार ईश्वर भी नित्य है सार्वकालिक है कालपरिच्छेद शून्य है।

वस्तुपरिच्छेद—एक वस्तु का दूसरी वस्तु न होना वस्तुपरिच्छेद है।

द्वैतवाद[1] की दृष्टि से सभी वस्तुएँ परमार्थसत् हैं[2] अतः ईश्वर भी परमार्थसत् है। ईश्वर अन्य वस्तुओं से भिन्न है तथा अन्य वस्तुएं भी ईश्वर से भिन्न हैं। अर्थात् ईश्वर अन्य वस्तु नहीं और अन्य वस्तु ईश्वर नहीं। यही है वस्तुपरिच्छेद। इस प्रकार ईश्वर या ब्रह्म वस्तुपरिच्छेदशून्य नहीं है, द्वैतवादियों की दृष्टि से।

अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म से भिन्न कोई भी पदार्थ परमार्थ सत् नहीं है। अर्थात् ब्रह्म को छोड़कर किसी भी पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। यतः कार्य की सत्ता कारण की सत्ता के आधीन होती है, तथा इस सब जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण ब्रह्म ही है, इसलिये सम्पूर्ण जगत् की सत्ता ब्रह्म की सत्ता के अधीन है अतएव जगत् ब्रह्म में अध्यस्त अथवा ब्रह्म का विवर्त कहा जाता है। परिणाम यह कि ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ वास्तव में है ही नहीं। यही है उसकी वस्तुपरिच्छेदशून्यता। इस प्रकार ब्रह्म वस्तुपरिच्छेदशून्य है। वह परिपूर्ण व्यापक है, निरवच्छिन्नव्यापक है। इसी का नाम है 'देशकाल-वस्तुपरिच्छेदशून्य व्यापकता'। विष्णुसहस्रनाम के भाष्यकारका यही आशय है। यहाँ दृष्टान्त आकाश की व्यापकता एवं नित्यता द्वैतवादियों की दृष्टि से है।

दूसरा निर्वचन इन्होंने विश प्रवेशने से ही किया है। वहाँ का लेख है 'विशेर्वा नुक्प्रत्ययान्तस्य रूपम्' अर्थात् नुक् प्रत्ययान्त विश् धातु से विष्णु बन सकता है। इस निर्वचन का आधार निम्न वचन दिया है—

---

१. द्वैत शब्द भिन्नता का वाचक है। जब परब्रह्म के लिए अद्वैत शब्द का प्रयोग होता है, तब उसका अर्थ यही स्वीकार किया जाता है कि वह द्वैतभाव से रहित है दो तीन चार नहीं। यदि द्वैत का अर्थ दो की सत्ता ही माना जाए, तो अद्वैत विशेषण होने पर ईश्वर के द्वित्त्व का ही प्रतिषेध होगा, त्रित्व चतुष्ट्व आदि का नहीं। अतः दार्शनिक परिभाषा में द्वैत शब्द दो की सत्ता का बोधक नहीं माना जाता, अपितु अनेकता का बोधक होता है। तदनुसार अद्वैत के प्रतिपक्ष में दर्शनशास्त्र में द्वैत शब्द का ही व्यवहार होता है। आर्यसमाज में ईश्वर जीव प्रकृति तीन की सत्ता के लिए जो त्रैत शब्द का व्यवहार प्रचलित हो गया है, वह दार्शनिक दृष्टि से ग्राह्य नहीं है। ऋषि दयानन्द ने भी 'त्रैत' शब्द का कहीं व्यवहार नहीं किया। सम्पा०।

२. कार्य की कारण में सत्ता मानकर अर्थात् सांख्यसिद्धान्तानुसार सत्कार्य-वाद में। सम्पा०।

यस्माद्विष्टमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मादेवोच्यते विष्णुः विशेर्धातोः प्रवेशनात्॥
विष्णु पु. ३–१–४५

द्वैतपक्ष में वस्तुपरिच्छेदशून्यता किस प्रकार हो सकती है, इसका निरूपण 'अनन्त' शब्द की व्याख्या में करेंगे।

४—श्रीमध्वाचार्य ने विष्णुपद की रचना निम्न धातुओं से मानी है—वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु, विष्लृ व्याप्तौ, वश कान्तौ और विश प्रवेशने। इसका आधार इन्होंने निम्न भारत वचन स्वीकार किया है—

गतिश्च सर्वभूतानां प्रजानां चापि भारत।
व्याप्तौ मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाभ्यधिका मम॥
अधिभूतनिविष्टश्च तदिच्छुश्चास्मि भारत।
क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः॥ शान्ति पर्व।

५—इस शब्द के निम्न निर्वचन भी भगवत्-परक देखे जाते हैं—

(क) विश्वं नियमयतीति विष्णुः। अर्थात् संसार का नियमन करने से भगवान् विष्णु कहाते हैं।

(ख) विशेषेण नूयते स्तूयते जनैरिति विष्णुः। भक्त जिनकी नाना प्रकार की स्तुतियाँ करते हैं इसलिये वे विष्णु हैं।

विष्णु शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर विष्णु शब्द भगवान् का वाचक है—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्। ऋक् ७–२२–२०

विष्णोः = सर्वव्यापक भगवान् के **तत् परमं पदम्** = उस मुक्तात्माओं द्वारा प्राप्तव्य परम पदको **सूरयः** = अहंकार ममकारशून्य विद्वान् **दिवि आततं चक्षुरिव** = आकाश में प्रकाशमान सूर्य के सदृश **सदा पश्यन्ति** = स्पष्ट देखते हैं।

मन्त्र के इस प्रकार के शब्दार्थ में निम्न प्रमाण हैं—

(क) त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत् परमं पदम्।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम्॥
भाग० १२–६–३३।

(ख) १. सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुः। (अथर्व १३-२-४५)
२. सूर्यो वै प्रजानां चक्षुः। (शत० १३-३-८-४)
विष्णवे नमः।

उरुक्रम

१—इस नाम के विषय में श्री महाराज लिखते हैं —

(क) 'उरुर्नाम महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः' उरुक्रम अनन्त पराक्रम जिसका है उसका नाम उरुक्रम है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. ८)

(ख) 'उरुः महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः' अनन्तपराक्रम युक्त होने से परमात्मा का नाम उरुक्रम है। (स. प्र. पृ. ६ स्तं. १)

२—इस शब्द के निम्न निर्वचन भी समुचित हैं—

(क) उरुः महान् क्रमः क्रान्तिर्यस्य, अर्थात् जिनकी क्रान्ति महान् है जो सर्वव्यापक है सर्वत्र पहुचे हुए हैं। उपनिषत् कहती है—'तद्धावतोऽन्यान्नत्येति' (ईश. ४)।

(ख) उरुः महान् क्रमः पादविक्षेपोऽस्य। आपातदर्शिओं को यह निर्वचन ठीक प्रतीत नहीं होगा। निरुक्तकार लिखते हैं—पादः पद्यतेः (निरु २.७) अर्थात् प्राप्तव्य स्थान का नाम है पाद। विक्षेप शब्द विपूर्वक क्षिप प्रेरणे से बनता है। इसलिये विक्षेप का अर्थ हुआ विशिष्टा प्रेरणा। अब उरुक्रम का अर्थ होगा प्राप्तव्य स्थान के लिये जिसकी महान् प्रेरणा है। भगवान् ने वेद का ज्ञान देकर प्राप्तव्य अभ्युदय निःश्रेयस के लिये महती प्रेरणा की ही है। अतः उनको उरुक्रम कहना समुचित ही है।

उरुक्रम शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर उरुक्रम शब्द भगवान् के लिये प्रयुक्त हुआ है—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥

ऋक् १-१५५-५

देवयवः = दिव्य रूप भगवान् के पाने की इच्छा वाले पुरुष **यत्र** = जहाँ पर **मदन्ति** = अनन्त आनन्द का उपभोग करते हैं। **अस्य** = इन भगवान्

के तत् प्रियं पाथः = उस परम प्रेमास्पद प्रापणीय पदको अहम् अभि अश्याम् = मैं भी प्राप्त कर लूं। विष्णोः = व्यापक उरुक्रमस्य = परम-प्राप्तव्य मोक्ष के प्रेरक भगवान् के परमे पदे = परमोच्च पद में मध्व उत्सः (अस्ति) = परमानन्द का अखण्ड रस बह रहा है। इत्था = इस प्रकार परमानन्द की प्राप्ति के लिये प्रेरणा करने से स हि = केवल वही हमारे बन्धुः = वास्तविक बन्धु हैं।

आशय यह कि भाग्यशाली पुरुष जिसमें रमण करते हुए आनन्द उठाते हैं, भगवान् के उस परम पद को मैं भी पा लूं। इस उरुक्रम के परम पद में ही अखण्ड आनन्द बह रहा है तथा इस परम पद की प्राप्ति करा देने से ही भगवान् हमारे परम बन्धु हैं। उरुक्रम और विष्णु का कुछ नियतसा सम्बन्ध है। मन्त्रों में विष्णु तो चाहे अकेला मिल जावे किन्तु 'उरुक्रम' विना 'विष्णु' के नहीं मिलता।

उरुक्रमाय नमः

ब्रह्म

१—इस शब्द को महाराज ने बृह बृहि इन दो धातुओं से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) बृह बृहि वृद्धौ इन दो धातुओं से ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है जो सबके ऊपर विराजमान होय और सबसे बड़ा होय ब्रह्म हैं। (स० प्र० प्र० सं० पृ ८)

(ख) सर्वेभ्यो बृहत्वात् ब्रह्म' सबसे बड़ा होने से ब्रह्म ईश्वर का नाम है। (स० प्र० पृ० ३ स्तं० २)

(ग) बृह बृहि वृद्धौ इन धातुओं से ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है जो सबसे ऊपर विराजमान सबसे बड़ा अनन्त बलयुक्त परमात्मा है। (स० प्र० पृ० ६ स्तं २)

(घ) उणादिकोष के 'बृंहेर्नो ऽच्च' (४–१४६) सूत्र का व्याख्यान करते हुए महाराज लिखते हैं—'बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म'।

२—निघण्टु में ब्रह्म शब्द धन पर्यायों में पढ़ा है। यज्वा महोदय इसका व्याख्यान करते हुए लिखते हैं 'वर्धन्तेऽनेन धर्मादयः' अर्थात् धर्मादि की वृद्धि

करने के कारण धन को भी ब्रह्म कहते हैं। है भी ठीक, **'धनाद्धर्मं ततः सुखम्'**। किन्तु ध्यान रखना चाहिये कि धनादि के परम वर्धक तो भगवान् ही है। अतः वास्तव में ब्रह्म वे ही हैं।

३—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में लिखा है—**'बृहत्वात् बृंहणत्वाच्च सत्यादिलक्षणं ब्रह्म'**। वाचस्पति महोदय भी भामती में **'बृहत्वात् बृंहणत्वाच्चात्मैव ब्रह्मेति गीयते'** ऐसा ही लिख गये हैं। आशय यह कि जो स्वयं बृहत् हैं तथा सम्पूर्ण जगत् का बृंहण करते हैं, इसलिये भगवान् ब्रह्म कहाते हैं।

(ख) भगवद्गुणदर्पण भाष्य में आंचार्य श्री रंगनाथ लिखते हैं **'एवं व्यक्ताव्यक्तव्यष्टिसमष्टिपुरुषान् बृंहयति निरतिशयकल्याणगुणैः स्वरूपगुणविभवैः स्वयं च बृंहतीति अनपेक्षिकं वेदान्तवेद्यं परं ब्रह्म'**। आशय यह कि सब जीवों को बढ़ाने पोषण करने तथा स्वयं निरतिशय कल्याण गुणों से और अनेक स्वरूप, गुण तथा ऐश्वर्य में सबसे बड़ा होने से परमात्मा का नाम ब्रह्म है।

ब्रह्म शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर ब्रह्म शब्द ईश्वर का वाचक है—

> **ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन् पृथिवीं पर्वतान् अपः।**
> **सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानवः आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि॥**

ऋक् १०-६५-११

ब्रह्म = जगत् का उपबृंहण करने वाले भगवान् **ओषधीः वनस्पतीन् पृथिवीं पर्वतान् अपः** = पृथिवी पर्वत ओषधी वनस्पति तथा जलों को **जनयन्त** = उत्पन्न करते हैं। **सुदानवः** = अज्ञान के नाश करने के इच्छुक **आर्याः** = पापों से बच कर रहने वाले जन **सूर्यं** = प्रकाशस्वरूप अन्तःकरण के प्रेरक भगवान् को (अपने हृदय में) **विरोहयन्तः** = प्रकट करने के लिये **अधि क्षमि** = इस संसार में **व्रताः** = सत्कर्मानुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि के व्रत को **विसृजन्ते** = विशेष रूप से ग्रहण करते हैं।

आशय यह कि इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा पालन-पोषण

करने वाले भगवान् ही हैं और आर्यगण चित्तशुद्धि का व्रत धारण करके उनको अपने हृदय में पाते हैं।

ब्रह्मणे नमः

इति श्रीविनोदिन्याख्यायामष्टोत्तरशतनाम-
मालिकाव्याख्यायां प्रथममन्त्रा-
न्तर्गतनामव्याख्यानरूपं
तृतीयं प्रकरणम्।

प्रकरण—३

नाम संख्या— ८
पूर्वागत —१०
पूर्ण संख्या —१८

चतुर्थ प्रकरण

उल्लिखित आठ ८ नामों के पश्चात् चौथा विभाग १७ नामों का है। ये नाम 'शन्नो मित्रः' मन्त्र को छोड़ कर अन्य मन्त्र आदि से लिये गये हैं। वे निम्न हैं—

खम्	पुरुष	मनु	प्रजापति	प्राण
ब्रह्मा	रुद्र	शिव	अक्षर	सुपर्ण
यम	स्वराट्	कालाग्नि	दिव्य	गरुत्मान्
	मातरिश्वा		भूमि	

खम्

श्री महाराज ने इस नाम का उपमित निर्वचन किया है। आप लिखते हैं–

१—आकाशवत् व्यापक होने से खम्। (स. प्र. पृ. ३ स्तं. ३)

अब निर्वचन का स्वरूप होगा 'खमिव खम्' व्यापकत्वात्'।

२—'खर्वत्यस्मिन् जगदिति खम्', यह निर्वचन वैयाकरणों का है।

ख पद ब्रह्मवाची— निम्नस्थल में ख शब्द ब्रह्म का वाचक हैं।

ओं खं ब्रह्म (यजुः ४०-१७)

ओंकार से जिसका स्मरण तथा भावन करना चाहिये ऐसे भगवान् व्यापकतारूप सादृश्य सम्बन्ध से 'ख' पद से भी ग्राह्य हैं। अत एव उपनिषत् ने कहा है 'कं ब्रह्म[1] खं ब्रह्म' (छां. ४-१०-५) 'खं पुराणम्' (बृह. ५-१)।

खाय नमः

---

१. हमारे विचारानुसार 'कं ब्रह्म' जीवात्मा का प्रतिपादक है। ब्रह्म शब्द भी जगत् जीव और परमात्मा तीनों के लिए प्रयुक्त होता है। अतः कं विशेषण जीवात्मा का बोधन कराता है और 'खम्' परमात्मा का। शरीरवाचक 'काय' शब्द का अर्थ भी यही है 'को देवताऽस्य'। 'क' मस्तक का वाचक भी है 'कं मस्तके' हैम लघुन्यास, पत्रा २२, ख। केश–के शेरते इति केशाः, कं मस्तिष्कं शिरो वा पाटयतीति कपाटः, निर्वचनानुसार केश और कपाट के

पुरुष

१—श्री महाराज ने इस शब्द को 'पॄ पालनपूरणायोः' तथा 'पुर अग्रगमने' से बनाया है। आप लिखते हैं —

(क) पॄ पालनपूरणयोः इस धातु से पुरुष शब्द सिद्ध हुआ है 'यः स्वव्याप्त्या चराचरं जगत् पृणाति = पूरयति वा स पुरुषः' जो सब जगत् में पूर्ण हो रहा है इसलिये उस परमेश्वर का नाम पुरुष है। (स० प्र० पृ० १२ स्तं० २)

२—'पुरः कुषन्' इस उणादि सूत्र (४।७४) की व्याख्या में लिखा है 'पुरति अग्रं गच्छतीति पुरुषः' अर्थात् जो पूर्व से ही विद्यमान है, अथवा जिनका सब कार्यों से पूर्व ध्यान किया जाता है।

३—अथर्व की दृष्टि से 'पुरं वेत्तीति पुरुषः' ऐसा पुरुष शब्द का निर्वचन है। श्रुति है—'ब्रह्मणः पुरं वेदेति पुरुष उच्यते' (अथ० १०।२।३०)। श्रुति की दृष्टि से यह निर्वचन जीव का प्रतीत हो रहा है, क्योंकि ब्रह्मपुर का ज्ञान वही तो करेगा। जहां ब्रह्म ओतप्रोत हैं वह सब ही ब्रह्म का पुर हुआ और वह है सर्वजगत्, उसको सम्पूर्णतया भगवान् ही जानते हैं, इस दृष्टि से वे भी पुरुष कहे जा सकते हैं।

४—निरुक्तकार ने इस शब्द को तीन विभिन्न धातुओं से बना माना है। उनका लेख है—'पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तः इति अन्तःपुरुषमभिप्रेत्य' (निरु० २।३)। अब निर्वचनों का स्वरूप होगा—

(क) 'पुरि सीदतीति पुरुषः' यहां धातु षद्लृ मानी गई है। इसका अर्थ है—इन लोकों में विद्यमान होने से भगवान् पुरुष कहाते हैं। शतपथ में आता है—'इमे वै लोकाः पूः' (शत० १३।६।२।१)।

(ख) पुरि शेते इति पुरुषः' यहां शीङ् धातु से काम लिया गया है। इस निर्वचन का मूल 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः नैतेन

एक देश में प्रयुक्त 'क' शिरोवाचक है। मस्तक अन्तर्गत ब्रह्म-गुहा में जीव का स्थान होने से तात्स्थ्योपाधि से जीव भी 'क' वा 'कम्' कहाता है। हिन्दी में प्रयुक्त 'क ख भी नहीं जानता' मुहावरे में क-ख शब्द वस्तुतः जीव और परमात्मा के वाचक हैं। सम्पा०।

किञ्चनानावृतम् नैतेन किञ्चनासंवृतम्' (बृह० २।५।१८) इस उपनिषत् वाक्य में निहित है।

(ग) 'पूरयतीति पुरुषः' यहां धातु पूरी आप्यायने है। आप्यायन का अर्थ है तृप्ति, जैसा कि 'आप्यायितोऽहं भवद्दर्शनेन' इत्यादि अनेक वाक्यों से प्रतीत होता है। आशय यह है कि पूर्णपरितृप्त एवं आप्तकाम होने से भगवान् पुरुष कहते हैं।

५—निरुक्तभाष्यकार स्कन्दस्वामी इस शब्द को 'शद्लृ शातने' से भी बनाते हैं। उनका निर्वचन है—'पुरुशादोऽस्येति पुरुषः'। अर्थात् जो मानसिक दुर्भावनाओं का शातन अर्थात् विनाश करते हैं, इसलिये उन्हें पुरुष कहते हैं।

६—विष्णुसहस्रनाम के—

(i) शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में पुरुष शब्द के आठ निर्वचन किये हैं जो भगवान् के विभिन्न गुण-कर्मादि के द्योतक हैं।

(क) पुरं शरीरं, तस्मिन् शेते पुरुषः। शरीर में विद्यमान होने से भगवान् पुरुष कहाते हैं। भगवान् का शरीर कौन सा है? इसको अन्तर्यामी ब्राह्मण का यह वचन स्पष्ट करता है—'य आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्' (शत १४-५ ५-३०)। आशय यह कि जो आत्मा में विद्यमान होकर उसका नियमन कर रहे हैं, जिनको आत्मा नहीं जानता, जिनका आत्मा शरीर है, वे ही अन्तर्यामी अमृत भगवान् है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् ही उनका शरीर कहा गया है।

(ख) अस्तेर्व्यत्यस्ताक्षरयोगात्, आसीत् पुरा पूर्वमेवेति विग्रहं कृत्वा व्युत्पादितः पुरुषः। आशय यह कि 'पुरा पूर्वं वा आसीत् इति पुरुषः' भगवान् पहले भी थे, अतः उन्हें पुरुष कहते हैं। यह निर्वचन भगवान् की अनादिता को बता रहा है। इस निर्वचन का मूल भाष्यकार ने 'पूर्वमेवाहमासमिति तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्' वचन उद्धृत किया है।

(ग) पुरुषु भूरिषु उत्कर्षशालिषु सत्त्वेषु सीदतीति पुरुषः। अर्थात् जो उत्कर्षशालिओं में विद्यमान है इसलिये भगवान् को पुरुष कहते हैं। इस निर्वचन का मूल है—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ (गीता १०-४१)

यह गीता वाक्य।

(घ) पुरूणि फलानि सनोति ददातीति पुरुषः। सबको यथायोग्य कर्मों का फल प्रदान करने से भगवान् पुरुष कहाते हैं। इसके मूल में जीव कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फलप्राप्ति में भगवान् के अधीन है यह अटल सिद्धान्त निहित है।

(ङ) पुरूणि भुवनानि संहारकाले स्यति अन्तं करोतीति पुरुषः। अर्थात् संहार काल में जगत् का अन्त करने से भगवान् पुरुष कहाते हैं। 'संहार काले च तदत्ति भूयः' (?) यह वचन इस निर्वचन का मूल है।

(च) पूरणात् सादनात् वा पुरुषः। पूर्ण रूप से व्याप्त होने से भगवान् पुरुष कहाते हैं। इस निर्वचन का मूल 'पूरणात् सादनाच्चैव ततोऽसौ पुरुषोत्तमः' यह भारत-वाक्य है।

(छ) 'सर्वस्मात् पुरा सादनात्' 'सर्वपापस्य वा सादनात् पुरुषः'। सबसे पूर्व विद्यमान होने से अथवा सब पापों का उच्छेद करने से भगवान् पुरुष कहते हैं। इन दोनों निर्वचनों का मूल है—'स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात्, सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुषः' (बृह० १-४-१) यह उपनिषद् वाक्य।

(ज) पुरि शयनात् वा पुरुषः। इसका स्पष्टीकरण पूर्व किया जा चुका है।

(ii) भगवद्गुणदर्पण भाष्य में आचार्य रंगनाथ लिखते हैं—

(क) पुरं प्रभूतं मोक्षरूपमानन्दं सनोतीति पुरुषः। मोक्ष का महान् आनन्द प्रदान करने से भगवान् को पुरुष कहते हैं। श्रुति कहती है—उतामृतत्वस्येशानः' (ऋक् १०-९०-२)।

(ख) दृष्टःसन् पुर एव सर्वान् किल्विषान् ओषति दहतीति पुरुषः। इनके दर्शन मात्र से सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो जाते हैं, इसलिये इनको पुरुष कहते हैं। उपनिषत् कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश् छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
मुण्डक २-२-८

७—भारतकार ने पुरुष शब्द का निर्वचन अत्यन्त विभिन्न रूप से किया है। वे लिखते हैं—

'परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते'। (उद्योग १३३-३५)।

निर्वचन का स्वरूप होगा **'परं विषहते इति पुरुषः'** अर्थात् शत्रुओं की धर्षणता करने से ही पुरुष पुरुष है। यह निर्वचन भगवान् की दृष्टि से नहीं किया गया है।

८—जगत् पृणाति = पालयति पूरयति च ततो यथासमयं प्रलये ओषति = दहति विनाशयति पुरुषः। उत्पत्तिस्थितिसंहारकर्ता इत्यर्थः। अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करने से भगवान् पुरुष कहाते हैं।

पुरुष शब्द की ब्रह्मवाचकता—निम्न स्थल पर पुरुष शब्द भगवान् का वाचक है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्त्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ ऋक् १०.९०.२

यद् भूतं यच्च भाव्यम् = यह जो कुछ भूत वर्तमान तथा भविष्य है **इदं सर्वम्** = यह सब उपलब्ध जगत् **पुरुष एव** = व्यापक सब जगत् के आधार, सदातन भगवान् में ही है। **उत** = और वेही **अमृतत्वस्य ईशानः** = मोक्ष के भी अधिष्ठाता हैं, **यत्** = जो मोक्ष **अन्नेनातिरोहति** = विनाशी लौकिक सुखों से कहीं बढ़ कर है।

पुरुषाय नमः

मनु

१—श्री महाराज ने इस शब्द को 'मान पूजायाम्' तथा 'मन ज्ञाने' इन दो धातुओं से बनाया है। आप लिखते हैं —

(क) 'मानयति चराचरं जगत्, अथवा सर्वैः वेदादिभिः शास्त्रैः शिष्टैश्च मन्यते स मनुः' जो सब जगत् का मान करे अथवा वेदादि-शास्त्र और शिष्टलोक जिसको अत्यन्त माने इस से परमेश्वर का नाम मनु है। (स. प्र. प्र. सं. पृ० २२)।

जहाँ मान धातु पूजा अर्थ में हैं वहाँ विचार अर्थ में भी है। इससे भगवान् का संकल्प पूर्वक सृष्टिकर्तृत्व द्योतित होता है। उपनिषत् कहती है 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति। इमाँल्लोकानसृजत' (ऐत० १.१.१)

(ख) विज्ञान स्वरूप होने से मनु। (स. प्र०पृ० ३ स्तं. २)

(ग) मन ज्ञाने धातु से मनु शब्द बना है 'यो मन्यते स मनुः' जो मनु अर्थात् विज्ञानशील और मनन करने योग्य है इसलिये उस परमेश्वर का नाम मनु है। (स० प्र० पृ० १२ स्तं १)

२—उणादिकोष में 'शृस्वृस्निहित्रपि' सूत्र (१।१०) की व्याख्या में लिखा है—'मन्यते चराचरं जगत् जानातीति मनुरीश्वरः' यहां मन ज्ञाने धातु स्वीकार की है। इस निर्वचन का मूल है 'प्रजापति वैं मनुः स हीदं सर्वमनुत' (शत ६-६-१-१८)।

३—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में 'मननात् मनुः' ऐसा निर्वचन है।

(ख) भगवद्गुणदर्पणभाष्य में 'मन्यते मनुते वेति' लिख कर आचार्य श्री रङ्गनाथ ने इस शब्द की रचना में 'मन ज्ञाने' तथा 'मनु अवबोधने' दोनों धातु मानी हैं।

मनु शब्द की भगवद्वाचकता—निम्न स्थल पर मनु शब्द भगवान् का वाचक है :—

> भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
> अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणात्।
> गावो न यवसे विवक्षसे। ऋक् १०-११-१

मनवे नमः

प्रजापति

प्रजापति पद में दो शब्द हैं प्रजा + पति। अतः इसका अर्थ होगा—

१—प्रजायन्ते इति प्रजाः, पाति रक्षतीति पतिः, प्रजानां पतिः प्रजापतिरीश्वरः'। अर्थात् उत्पन्न सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् का पालन करने से भगवान् प्रजापति कहाते हैं।

२—निरुक्तकार इस शब्द पर लिखते हैं "प्रजानां पाता वा पालयिता वा' (निरु० १०-४२-७)। यहाँ पाता तथा पालयिता पृथक् पृथक् धातु के सूचक हैं ऐसा स्कन्द और दुर्ग का आशय है। किन्तु 'पा रक्षणे' धातु से 'डति' प्रत्यय करके सरल मार्ग से रक्षणार्थक पति शब्द बन जाने पर भी फिर उसे 'पाल रक्षणे' से निपातन द्वारा सिद्ध करने का प्रयोजन क्या है, यह व्याख्याकार ही समझ सकते हैं।

३—विष्णुसहस्रनाम की—

(क) अद्वैतसम्प्रदायानुसारिणी टीका में 'ईश्वरत्वेन सर्वासां प्रजानां पतिः प्रजापतिः' ऐसा लिखा है।

(ख) विशिष्टाद्वैतानुसारिणी व्याख्या में स्वाभिमत सिद्धान्तानुसार निम्न विग्रह किया है—'बद्धमुक्तेभ्यः प्रकृष्टतया जायन्ते भवन्ति इति प्रजाः सूरयः, प्रकर्षेण जायमानानां प्रजानां प्रादुर्भवतां सूरीणां पतिः स्वामी नित्यपरिचरणीय इत्यर्थः'। बद्ध तथा मुक्त दोनों की अपेक्षा जिनका उत्कर्ष है, ऐसे नित्य-विभूति गरुड़ विष्वक्सेनादि कहाते हैं सूरि। इन परिचरणीय सूरियों के भी जो परिचरणीय हैं, इससे भगवान् प्रजापति कहाते हैं।

४—पति शब्द 'पा पाने' से भी बनता है, तब 'प्रजाः पिबति संहारकाले इति प्रजापतिरीश्वरः'। अर्थात् संहारकाल में प्रजा का पान करने से भगवान् प्रजापति हैं। कहा भी है 'संहारकाले च तदत्ति भूयः'।

प्रजापति शब्द की ब्रह्मवाचकता—निम्न स्थल पर प्रजापति शब्द परमात्मा का वाचक है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥
(ऋक् १०-१२१-१०)

हे प्रजापते=प्रजाओं के पालक भगवान् एतानि तानि विश्वानि जातानि=इन सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थों को त्वदन्यः न परिबभूव=तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं व्याप्त कर रहा है। हे भगवन् आप प्रजा के पालक हैं इसलिए यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु=जिन जिन कामनाओं से हम आपको पुकारें वह वह हमको प्राप्त हों। वयं रयीणां पतयः स्याम=हम ऐश्वर्यों के स्वामी हों अर्थात् हमें समृद्धि-प्राप्त हो, यही हमारी प्रार्थना है।

इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार लिखते हैं—**'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' इत्याशीः** (निरु० १०-४३)। यहाँ निरुक्तकार के **'आशीः'** पद का पारिभाषिक अर्थ न लेकर आशंसा (प्रार्थना) अर्थ ही लेना चाहिये। क्योंकि 'अस भुवि' धातु का आशीर्लिङ् में 'स्याम' न बनकर 'भूयासम्' बनेगा। स्वयं निरुक्तकार अन्यत्र ऐसे स्थान पर आशीः शब्द का प्रयोग कर चुके हैं **'अथाप्याशीरेव भवति सुचक्षा अक्षिभ्यां भूयासम्'** (निरु० ७-३-३) 'स्याम' तो लिङ् सामान्य में बनेगा, जिसके विधि आदि अनेक अर्थों में से प्रार्थना भी एक अर्थ है।

प्रजापतये नमः

प्राण

१—श्री महाराज ने इस शब्द को लाक्षणिक माना है। वे लिखते हैं—

(क) सबका जीवन मूल होने से प्राण। (स० प्र० पृ० ३ स्तं २)

(ख) जैसे प्राण के वश में सब शरीर और इन्द्रियाँ होती हैं वैसे ही परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है। (सं० प्र० पृ० ४ स्तं० १)

इन दृष्टियों से निर्वचनों के रूप होंगे—

(क) प्राणानामपि मूलं प्राणः। इस निर्वचन का मूल **'यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणानि भुवनानि विश्वा'** (अथर्व १३.३.३) यह आथर्वणी श्रुति है। कठ अ० २ वल्ली २ के तीसरे मन्त्र **'यदिदं जगत् किञ्च प्राण एजति निःसृतम्'** के शांकरभाष्य की व्याख्या करते हुए आनन्दगिरि लिखते हैं **'सद्रूपं वस्तु जगतो मूलं, तच्च प्राणपदलक्ष्यम्, प्राणप्रवृत्तेरपि हेतुत्वात्'**। अर्थात् जगत् के मूलकारण सत् में प्राण पद का प्रयोग लाक्षणिक है, क्योंकि वे प्राणप्रवृत्ति के हेतु हैं। आशय यह कि प्राणप्रदाता होने से भगवान् प्राण कहाते हैं।

(ख) प्राण इव वशकर्ता प्राणः। इस निर्वचन का मूल यह वाक्य है—**'तान् ह वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथ अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्य एतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति'** (प्रश्न २.३)। आशय यह कि प्राण बोला कि मैं ही इस शरीर को धारण कर रहा हूँ, यह मेरे ही वश में है। उपनिषत् कहती है—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च निधेहि॥

(प्रश्न २. १३)

अर्थात् यह सब जगत् जो तीनों लोकों में प्रतिष्ठित है प्राणन शक्ति प्रदान करने के कारण प्राण कहाने वाले भगवान् के वश में हैं।

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में 'सूत्रात्मना प्रजाः प्राणयतीति प्राणः' ऐसा लिखा है। आशय यह कि सूत्रात्मा बनकर प्रजा को जीवन देने से भगवान् प्राण कहाते हैं।

३—निम्न निर्वचन भी इस शब्द के समुचित हैं—

(क) प्राणिति सर्वं जगदनेन स प्राणः।

(ख) प्राणयति प्रणीयते वा सर्वं जगत् यो येन वा स प्राणः। इस अवस्था में जगन्निर्मातृत्व भगवान् में आता है।

प्राण शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर प्राण शब्द भगवान् का वाचक है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(अथर्व० ११।४।१)

यः सर्वस्य ईश्वरो भूतः=जो इस सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं, पालक हैं, **यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्**=तथा यह सम्पूर्ण जगत् जिनपर आश्रित है जिनकी मुट्ठी में है जो इसके उत्पत्तिस्थिति संहारकर्ता हैं, ऐसे **प्राणाय**=प्राणदाता होने से प्राण के समान जगन्नियन्ता होने से, सूत्रात्मना जगत्रूपी शरीर के प्राण होने से अथवा जगत् का प्रणयन करने से प्राण नाम धारण करनेवाले भगवान् को **नमः**=मेरा नमस्कार हो।

प्राणाय नमः

ब्रह्मा

१—श्रीमहाराज ने इस शब्द को बृह बृहि इन दो धातुओं से बनाया है। आप लिखते हैं—

योऽखिलं जगत् निर्माणेन बृंहति वर्धयति स ब्रह्मा' सम्पूर्ण जगत् को रच के बढ़ाता है। इसलिये परमेश्वर का नाम ब्रह्मा है।

(स. प्र. पृ. १० स्तं. १)

२—निरुक्तकार ने 'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्' ऋचा की व्याख्या करते हुए लिखा है—'ब्रह्मा परिबृढः श्रुततः' (निरु. १।८) अर्थात् जो श्रुति का स्वामी है वही ब्रह्मा है। यह निर्वचन ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् को दृष्टि में रखकर किया गया है, और है भी ठीक। जिसका चारों वेदों पर पूर्ण अधिकार होगा, वही यज्ञकर्म का समुचित सम्पादन करा सकेगा।

वास्तव में श्रुति के प्रभु भगवान् ही हैं, क्योंकि वे ब्रह्मा को भी श्रुति का ज्ञान देने वाले हैं। उपनिषत् कहती हैं—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यश्च वेदान् प्रहिणोति तस्मै' (श्वेता० ६-१८)। इसी प्रसंग में आचार्य ने ब्रह्म शब्द का भी निर्वचन कर दिया है। वे लिखते हैं 'ब्रह्म परिबृढं सर्वतः' (निरु० १-८) अर्थात् जो सब के प्रभु तथा सब से समर्थ हैं, वे ही ब्रह्म है।

ब्रह्मा पद भगवत्परक—निम्न स्थल पर ब्रह्मा शब्द भगवान् का वाचक है—

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे।
ब्रह्मणे स्वाहा। (अथ० १९-४३-८)

ब्रह्मा = सम्पूर्ण जगत् का संवर्धन करनेवाले भगवान् मा = मुझे तत्र नयतु = वहाँ ले जावें यत्र = जहाँ पर दीक्षया तपसा सह = दीक्षा और तप से ब्रह्मविदो यान्ति = ब्रह्मज्ञ ऋषि मुनि पहुँचते हैं। ब्रह्मा = श्रुति के स्वामी मे = मुझ में ब्रह्म दधातु = वेद के ज्ञान का आधान करें। ब्रह्मणे = वेद के विधाता भगवान् के लिये स्वाहा = मैं सत्कार पूर्ण वाणी का प्रयोग करता हूँ।

आशय यह कि विधिपूर्वक दीक्षित होकर तप करनेवाले संयमी विद्वान् जिस पद को पाते हैं उसी पद को भगवान् ब्रह्मा की कृपा से मैं भी पाऊँ। इसके लिये साधन केवल वेद्य (ज्ञान) ही हैं। उपनिषत् कहती है 'तमेव विदित्वा-

तिमृत्युमेति (श्वेता० ३-८), और वह ज्ञान वेदों में भरा पड़ा है। अतः मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे वेद का ज्ञान दें, जिसके द्वारा भगवद्दर्शनलाभ करके परम पद पा सकूँ। मैं अनेक प्रकार से इन उपकारी भगवान् की स्तुति करता हूँ।

ब्रह्मणे नमः

रुद्र

१—श्री महाराज ने णिजन्त रुदिर् धातु से यह शब्द बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) रुदिर् अश्रुविमोचने, 'रुदेर्णिलोपश्च'[1] इस धातु और इस सूत्र से रुद्र शब्द सिद्ध होता है। 'रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् रुद्रः' रुलाता है दुष्ट कर्म करनेवाले जीवों को जो उसका नाम रुद्र है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १३)

(ख) दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से रुद्र। (स. प्र. पृ ३ स्तं. २)

(ग) रुदिर् अश्रुविमोचने इस धातु से णिच् प्रत्यय होने से[2] रुद्र शब्द सिद्ध होता है 'यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः जो दुष्ट कर्म करने वालों को रुलाता है इससे परमेश्वर का नाम रुद्र है (स. प्र. पृ. ८ स्तं. २)

२—उणादिसूत्र रुदेर्णिलोपश्च'[1] (२।२२) की व्याख्या में श्री महाराज ने फिर लिखा है 'पापिनो रोदयतीति रुद्रः'।

सर्वत्र निर्वचन का साधारण रूप है 'रोदयतीति रुद्रः'।

३—अर्थवशिर उपनिषत् में भी एक निर्वचन दिया है। वहाँ का वचन है 'अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्मात् ऋषिभिर्वा अन्यैर्भक्तैः द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते तस्मादुच्यते रुद्रः' (अष्टाविंशत्युपनिषत् पृ० १५६)। इस दृष्टि से निर्वचन होगा—रूपं द्रुतमुपलभ्यते यस्य स रुद्रः।

---

१. उणादि सूत्र का शुद्ध पाठ 'रोदेर्णिलुक् च' है। द्र० उणादिकोष २।२२॥ सम्पा०।

२. यहाँ पाठ कुछ त्रुटित है। ऐसा पाठ चाहिए 'णिच् प्रत्ययान्त से रक् प्रत्यय होने से'। सम्पा०।

४—निरुक्तकार ने भी रुद्र शब्द का निर्वचन किया है। वे लिखते हैं—'रुद्रो रौतीति सतः, रोरूयमाणो द्रवतीति वा, रोदयतेर्वा, यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति काठकम्, यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति हारिद्रवकम्' (निरु. १०.६)।

प्रथम निर्वचन में 'रु शब्दे' धातु है, द्वितीय में रु और द्रु दो धातुयें हैं। दोनों निर्वचन रुद्र शब्द का अर्थ मेघ मानकर किये गये हैं। तीसरा निर्वचन वही णिजन्त रुदिर् धातु से है, किन्तु अर्थ में भेद है। यहाँ रुद्र का अर्थ प्राण है। इस प्रकार के अर्थ तथा निर्वचन का मूल है—'कतमे रुद्रा इति……तद् यत् रोदयन्ति तस्मात् रुद्राः' (बृह. ३. ९. ४) यह उपनिषत् वाक्य।

काठक आदि शाखा वाक्यों के अनुसार रुद्र का निर्वचन 'रोदितीति रुद्रः' और होगा।

५—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में 'प्रजाः संहरन् रोदयतीति रुद्रः' अर्थात् प्रजाओं का नाशकर के रुलाने से भगवान् रुद्र कहाते हैं, ऐसा निर्वचन दिया है। परिणाम वही 'रोदयतीति रुद्रः'।

(ख) विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायानुसारी भाष्य में लिखा है—'एवंविधरूपविविधचेष्टितद्रुतहृदयान् सानन्दवाष्पान् कुर्वन् रोदयतीति रुद्रः' सार यह कि—

ईदृकरूपैश्चेष्टितैश्च भक्तानानन्दवाष्पयन्।
रोदयत् रुद्र उदिष्टः।

परिणाम वही 'रोदयतीति रुद्रः'। भेद केवल इतना ही है कि ये आंसू प्रेम के हैं।

६—लिङ्ग पुराण में प्रकारान्तर से निर्वचन किया है। पुराण का पाठ है—

रुदुःखं दुःखहेतुर्वा विद्रावायति यः प्रभुः।
रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम्॥

आशय यह कि दुःख तथा दुःख के कारण को कहते हैं 'रु', उसको जो भगावे वह है 'रुद्र। निर्वचन का रूप होगा 'रुं द्रावयतीति रुद्रः'।

७–कुछ अन्य भी निर्वचन इस शब्द के मिलते हैं, जो भगवान् की विविध शक्ति तथा गुणों का निदर्शन कराते हैं। वे निम्न हैं—

(क) रोधिका बन्धका च शक्तिः रुत् तस्याः द्रावयिता रुद्रः। अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति की प्रतिबन्धक शक्तियों का विनाशक होने से भगवान् रुद्र कहाते हैं।

(ख) तापत्रयात्मकं संसारदुःखं रुत्,तं द्रावयतति रुद्र।[1] अर्थात् जगत् का तापत्रय से उद्धार करने के कारण भगवान् को रुद्र कहते हैं।

(ग) रुदन्ति जनाः अस्मिन्निति रुत्, स्थावरजङ्गमात्मकं जगत्, तं राति आदत्ते प्रलयकाले इति रुद्रः। अर्थात् जगत् का प्रलय करने से भी भगवान् रुद्र हैं।

(घ) रुत् शब्दराशिर्वेदः, तं कल्पादौ राति ददातीति रुद्रः। अर्थात् सर्ग के प्रारम्भ में वेद प्रदाता होने से भगवान् रुद्र हैं।

(ङ) रुत्या प्रणवरूपया स्वात्मानं द्रावयति प्राययतीति रुद्रः। अर्थात् प्रणव के द्वारा जिनकी प्राप्ति होती है। योग कहता है—तस्य वाचकः प्राणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्, ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (योग पा. १ सू, २७-२८-२९)।

(च) रुतः शब्दरूपा उपनिषदः ताभिः द्रूयते गम्यते प्रतिपाद्यते इति रुद्रः (सायण ऋग्भाष्य १-११४-१)।

(छ) रुत् शब्दात्मिका वाणी तत्प्रतिपाद्या आत्मविद्या वा, ताम् उपासकेभ्यो राति ददतीति रुद्रः' (सायण ऋग्भाष्य १-११४-१)।

आशय यह कि वेदप्रतिपाद्य आत्मविद्या का प्रदान करने तथा उपनिषत् प्रतिपाद्य होने से भगवान् रुद्र कहाते हैं। उपनिषत् कहती है 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह. ९-९-२६)।

रुद्र पद का भगवद्वाचकत्व—निम्न स्थल पर रुद्र शब्द भगवान् का वाचक है—

योऽग्नौ रुद्रो योऽप्स्वन्तः य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चक्लपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये।।

अथर्व ७-८७-१

---

१. रुद्र. रुत् संसाराख्यं दुःखम्, तद् द्रावयत्यपगमयति विनाशयतीति रुद्रः। सायण ऋग्भाष्य १–११४–४ सम्पा०।

यः रुद्रः = जो स्थावर जंगमात्मक जगत् में व्यापक भगवान् अग्नौ अप्सु ओषधीः वीरुधः अन्तः आविवेश = अग्नि, जल, ओषधि लता, वृक्ष आदि सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् में आविष्ट है। य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे = और जिसने यह सम्पूर्ण स्थावर जंगमात्मक जगत् बनाया है तस्मै अग्नये रुद्राय = उस प्रकाशस्वरूप भगवान् को नमः अस्तु = हमारा नमस्कार हो।

रुद्राय नमः

शिव

१—श्री महाराज ने इस शब्द का मूल शिवु कल्याणे तथा शीङ् स्वप्ने ये दो धातु मानी हैं। आप लिखते हैंः—

(क) सब कल्याणगुणों से सदायुक्त होने से परमेश्वर का नाम शिव है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. २२)

(ख) मंगलमय और सबका कल्याणकर्ता होने से शिव। (स. प्र. पृ. ३ स्तं. २)

(ग) शिवु कल्याणे इस धातु से शिव शब्द सिद्ध होता है 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' इससे शिवु धातु माना जाता है। जो कल्याण स्वरूप और कल्याण करने हारा है इसलिये उस परमेश्वर का नाम शिव है। (स० प्र० पृ० १३ स्तं० १)

(घ) सर्वनिघृष्वरिष्वलष्व' आदि उणादिसूत्र (१।१५३) की व्याख्या में लिखा है—'शेते सर्वमस्मिन्निति शिवः' अर्थात् प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् शान्तिपूर्वक जिसमें सोता है वे भगवान् शिव हैं।

२—निरुक्तकार इस शब्द को शिष् धातु से बनाते हैं। वे लिखते हैं—'शेव इति सुखनाम शिष्यतेः वकारो नामकरणः अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः, शिवमप्यस्य भवतीति' (निरु० १०·१७)।

सारांश यह कि शेव का अर्थ सुख है। यह शिष् धातु से व प्रत्यय करके बनता है। गुण विकल्प द्वारा इसी से शिव भी बनता है। तब निर्वचन होगा 'शिष्यते सुखावहो भवतीति शिवः'। आशय वही सुख देने वाले होने से भगवान् शिव कहाते हैं।

३—विष्णुसहस्रनाम की—

(क) अद्वैतानुसारिणी व्याख्या में लिखा है **'निस्त्रैगुण्यतया शुद्धत्वात् शिवः' 'स्वनामस्मृतिमात्रेण पावयन् शिवः'**। आशय यह कि स्वयं शुद्ध तथा पर शोधक होने से भगवान् शिव हैं।

(ख) विशिष्टाद्वैतानुसारिणी व्याख्या कहती है—**'शीङत्र शुभार्थः…… शेते सुखावहः लभ्यतेऽनेनेति शिवः'**। अर्थात् कल्याण की प्राप्ति कराने से भगवान् शिव कहाते हैं।

यहाँ यह समझ नहीं आता कि **'शेते शेषासने यः स शिवः'** इस सीधे वैष्णव दृष्टिकोण सम्पन्न निर्वचन को छोड़कर शीङ् धातु की अर्थान्तर कल्पना करके निर्वचन की क्लिष्टकल्पना क्यों स्वीकार की।[1]

४—इस शब्द के निम्न अन्य भी निर्वचन हैं—

(क) **शिवमस्यास्तीति शिवयतीति वा शिवः।** स्वयं कल्याण रूप होने तथा जगत् का कल्याण करने से भगवान् शिव कहाते हैं। महाभारत में लिखा है—**'मनुष्यान् शिवमन्विच्छन् तस्मादेष शिवः स्मृतः'** (महाभा० अनु० १६१-१०)।

(ख) **वष्टि अनवरतं कामयते लोकहितमिति शिवः।** निरन्तर सब संसार के कल्याण की कामना करने से भगवान् शिव कहाते हैं। इस निर्वचन में वश धातु से विपर्यय द्वारा शिव सिद्ध होता है। जैसा कि कहा भी है—

> **हिसिधातोः सिंहशब्दः वशकान्तौ शिवः स्मृतः।**
> **वर्णव्यत्ययतः सिद्धः पश्यकः कश्यपो यथा॥**

(ग) **श्वयति सर्वं जानाति सर्वं व्याप्नोति वा स शिवः।** अर्थात् सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक होने से भगवान् शिव कहाते हैं।

(घ) **'शेते सर्वं कारणसहितं जगदस्मिन्निति शिवः, सर्वाधारः स्वयं च निराधारः।'** प्रलय में कारण सहित जगत् इसमें लीन होकर रहता है, इसलिये भगवान् को शिव कहते हैं।

---

१. हो सकता है शिव को विष्णु से भिन्न मानकर उक्त निर्वचन स्वीकार न किया हो। सम्पा०।

(ङ) नैरुक्त धातुप्रक्रिया को दृष्टि में रखकर निर्वचन होगा **'शिष्यते प्रलयानन्तरमिति शिवः।** अर्थात् प्रलय के पश्चात् भी बच रहने से भगवान् शिव कहाते **हैं**। श्रुति कहती **है 'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्मात् हान्यन्न परः किंच नास'** (ऋक्० १०।१२९।२)।

शिव का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर शिव शब्द भगवान् का वाचक हैं—

आदित्यवर्णं तपसा ज्वलतं यत्पश्यामि गुहासु जायमानम्।
शिवरूपं शिवमुदितं शिवालयं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

ऋक्परि०[1] ३३।१५।

आदित्यवर्णम् = सूर्य के सदृश वरणीय, **तपसा ज्वलन्तम्** = अपने तेज से ज्योतिर्मय पिण्डों को ज्योति प्रदान करने वाले, **शिवरूपम्** = सुख स्वरूप, **शिवालयम्** = कल्याण के निधि, **शिवम् इति उदितम्** = संसार के कल्याण-कर्ता होने से, सुख स्वरूप होने से, लोकहित की कामना करने से, अथवा प्रलय के पश्चात् भी बच रहने से, जिन्हें शिव कहते हैं और जिन्हें **गुहासु जायमानं पश्यामि** = मैं अन्तःकरण में प्रादुर्भूत होने पर देखता हूँ वे शिव मे **मनः** = मेरे मन को **शिवसंकल्पम्** = शुभ संकल्प वाला, **अस्तु** = बनावें। अर्थात् अन्तःकरण में विद्यमान शिवरूप शिवालय भगवान् से प्रार्थना है कि वे मेरे मन को पवित्र करें।

शिवाय नमः

अक्षर

१—श्री महाराज ने **यह** शब्द अशूङ् व्याप्तौ तथा क्षर संचलने इन दो धातुओं से बनाया **है** :—

१. ऋषि दयानन्द ऋक्परिशिष्टों को प्रायः प्रामाणिक मानते हैं। अतएव उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य प्रकरण में ऋक्परिशिष्ट २२।१ के 'सितासिते' मन्त्र को उद्धृत करके उसका यथार्थ

(क) यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्। (स. प्र. पृ. ३ स्तं. २)।

(ख) जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी। (स. प्र. पृ. ४ स्तं. १)

(ग) उणादिसूत्र **अशेःसरः** (३।७०) की व्याख्या में महाराज ने लिखा है—**'अश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षरम्'**।

आशय यह कि सर्वव्यापी तथा अविनाशी होने से भगवान् का नाम अक्षर है।

२—निरुक्तकार लिखते हैं **'अक्षरं न क्षरति = न क्षीयते वा वाक्-क्षयो भवति,[2] वाचोऽक्ष इति वा'** (निरु. १३. १२)। इस दृष्टि से निर्वचनों का स्वरूप होगा :—

'न क्षरतीत्यक्षरम्'। जिसका संचलन व परिणाम नहीं होता वह है अक्षर। इस निर्वचन का मूल है **'वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते'** (ऐ. ब्रा. ५.३.१) यह ब्राह्मण वाक्य।

(ख) **वाक्क्षयो भवति = वाचः क्षयो = निवासो भवति।** वर्णलक्षणा वाणी का निवास अक्षर में होता ही है।

(ग) **वाचः अक्षः, वाचः अक्ष इव भवति इत्यक्षरम्।** अर्थात् ये अक्षर वाणी के धुरे हैं, वाणी को धारण करने वाले हैं।

ये निर्वचन वर्णवाची अक्षर शब्द के हैं। किन्तु प्रथम निर्वचन **'न क्षरतीत्यक्षरम्'** भगवान् में भी सुसंगत है, क्योंकि वे नित्य अविनाशी हैं। द्वितीय, तृतीय निर्वचन भी भगवत्परक हो सकते हैं, वे ही वेद रूपी वाणी के क्षय = निवास स्थान वा धुरा रूप हैं।

अर्थ दर्शाया है, अन्यथा वे उसे अप्रमाण कहकर टाल सकते थे। इसी प्रकार सं० १९३२ की सभाष्य सन्ध्योपासनादि पञ्चमहायज्ञविधि में लक्ष्मी सूक्त (परि० ११) का बहुत सुन्दर अर्थ दर्शाया है। अतः ग्रन्थकार का ऋक्परिशिष्ट से मन्त्र उद्धृत करना युक्त है। सम्पा०।

१. उणादिकोश का पाठ 'अशेः सरन्' है। महाभाष्य आदि में भी नित् पढ़ा है—अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन् प्रत्ययः (ञभञ् सूत्र भाष्य)। वेद में अक्षर शब्द मध्योदात्त है, तदनुसार 'सरः' पाठ युक्त है। सम्पा०।

२. निरुक्त का बहुसम्मत पाठ 'न क्षीयते वाक्षयं भवति' है। सम्पा।

३—निघण्टु के व्याख्याता यज्वा महोदय इस शब्द को अञ्जू धातु से भी बनाते हैं। वे लिखते हैं—'अनक्ति म्रक्षयति सेचयति वर्षेण भूमिम्'। यह निर्वचन इस प्रकार धात्वर्थ लेकर किया गया है, जिससे निघण्टु पठित जल अर्थ का प्रतिपादक अक्षर शब्द निरुक्त हो। किन्तु इसी धातु का दूसरा अर्थ लेकर 'अनक्ति=सर्गादौ व्यक्ति वेदान् हृदि इत्यक्षरम् ब्रह्म' इस प्रकार भगवत्परक निर्वचन भी किया जा सकता है। आशय यह कि सृष्टि के आदि में ऋषियों के हृदयों में वेदों का प्रकाश करने के कारण भगवान् अक्षर कहाते हैं।

४—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैतानुसारी भाष्यमें इसके दो निर्वचन किये हैं—

(i) **अश्नातेः सरप्रत्यान्तस्य रूपम् अक्षर इति**। तब निर्वचन होगा—**अश्नाति जगत् प्रलयकाले इत्यक्षरः'** अर्थात् प्रलयकाल में संसार का भक्षण करने से भगवान् अक्षर कहाते हैं।

(ii) दूसरा एक भेदबोधक निर्वचन है—'**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षरः'** यहां प्रथम अर्थ का विरोध है। अर्थात् क्षर-विरोधी पदार्थ अक्षर है।

क्षर है समस्त जगत्, क्योंकि यह विनाशी है और भगवान् अविनाशी होने से अक्षर है। गीता में भी कहा है—'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' (गी० १५-१६)।

अक्षर शब्द का ब्रह्मवाचकत्व—निम्न स्थलपर अक्षर शब्द परमेश्वर का वाचक है:—

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

ऋक्० १-१६४-३९

परमे=उत्कृष्ट **व्योमन्**=आकाश के समान प्रसंग व्यापक **यस्मिन् अक्षरे**=अविनाशी, सर्वव्यापक, वेदप्रकाशक भगवान् पर **ऋचः** ऋक् यजुः साम आदि वेद, **विश्वेदेवाः**=समष्टि व्यष्टि भूत काल आकाश सूर्य चन्द्र आदि देव तथा हिरण्यगर्भ आदि विद्वान् **अधिनिषेदुः**=आश्रित रहते हैं। **यः**=जो वेदोक्त कर्मानुष्ठान द्वारा शुद्ध चित्त होकर **तं न वेद**=उस भगवान् को नहीं जानते **किम् ऋचा करिष्यति**= उसको वेदादि पढ़ने से क्या लाभ। शास्त्र कहता है—

**स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥**

(निरुक्त १. १८) इसका संक्षेप में आशय यह है कि अर्थज्ञान तथा तदनुकूल कर्मानुष्ठान के बिना वेदाध्ययन व्यर्थ है ।

य इत् तद्विदुः और जो युक्त कर्मानुष्ठान द्वारा शुद्धचित्त होकर उनको पहचान लेते हैं **त इमे समासते** = वे ये सम्यक् भले प्रकार आनन्द में रहते हैं शास्त्र कहता है **'योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा** (निरु० १।१८) अर्थात् भद्र अर्थ तथा तदनुकूल कर्मानुष्ठान करने वाला सम्पूर्ण कल्याण को पाता है ।

अक्षराय नमः

सुपर्ण

१—श्री महाराज इस शब्द को सु उपपदपूर्वक पॄ पालनपूरणयोः इस धातु से बनाते हैं । आप लिखते हैं :—

शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि वा कर्माणि यस्य सः' जिनके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं । (स० प्र० पृ० ४ स्तं० १)

२—निरुक्तकार ने प्रसङ्गतः सुपर्ण पद का विवेचन किया है । वे लिखते हैं—**'सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः' 'सुपर्णानि सुपतनानीन्द्रियाणि'** (निरु० ३-१२) । इसलिए निर्वचनों के स्वरूप होंगे—

(क) सु शोभनं पततीति सुपर्णः ।

(ख) सु शोभनमर्थं ग्राह्यविषयमुद्दिश्य पतन्तीति सुपर्णानीन्द्रियाणि ।

यह अन्तिम निर्वचन यदि इस रूप से किया जाय **'सु शोभनं जगदुद्धारलक्षणमर्थमुद्दिश्य पततीति सुपर्ण ईश्वरः'** तो इस प्रकार सुपर्ण भगवान् का भी वाचक होता है ।

२—निघण्टु में सुपर्ण शब्द आता है । उसका व्याख्यान करते हुए यज्वा महोदय कहते हैं—**'शोभनं पृणन्ति पालयन्ति जगत् शीतादिनिवारणात्, अथवा पूरयन्ति वृष्ट्या, शोभनं पतनं गमनमेषामिति वा, सुष्ठु**

प्रीणयन्ति तर्पयन्ति जगत् वर्षप्रदानेनेति वा सुपर्णाः। यद्वा सुः मत्वर्थे, भावे च नप्रत्ययः पतनादिमन्तः सुपर्णाः'। सुपर्ण शब्द निघण्टु में किरणों का वाचक लिखा है। अतः यज्वा महोदय ने निर्वचन भी उसी प्रकार के किये हैं। किन्तु सु=शोभनं पृणाति=पालयति जगत्, पूरयति च विविधैः पदार्थैः—शोभनं पतनं ज्ञानं यस्य, सुष्ठु प्रीणयति तर्पयति च जगत् इति सुपर्णः परमेश्वरः। इस प्रकार ये निर्वचन भगवत्परक भी हो गये।

४—विष्णुसहस्रनाम की—

(क) अद्वैतानुसारिणी व्याख्या में इस शब्द के तीन निर्वचन किये हैं—

(i) शोभनधर्माधर्मरूपपर्णत्वात् सुपर्णः। अर्थात् उत्तम धर्माधर्म पर्णवाला होने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं। धर्माधर्म से आशय यहाँ धर्माधर्म जन्य फल से है। तब आशय यह होगा कि समुचित रूप से धर्माधर्म का फल देने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं।

(ii) शोभनं पर्णं यस्येति सुपर्णः। अर्थात् शोभन है पर्ण जिसका, पर्ण से अभिप्राय यहां फलप्रदान के सामर्थ्य से है।

(iii) शोभनानि पर्णानि छन्दांसि संसारतरुरूपिणोऽस्येति सुपर्णः' अर्थात् छन्द = वेद ही जिसके सुन्दर पर्ण हैं। गीता में कहा है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(गी. १५.१)

(ख) विशिष्टाद्वैतानुसारिणी व्याख्या में दो अन्य सुन्दर निर्वचन दिये है—

(i) शोभनपर्णत्वात् सुपर्णः।

(ii) सुष्ठु पारं नयतीति सुपर्णः।

इनका स्पष्टीकरण इन शब्दों से किया गया है—

(i) सु शोभनपर्णत्वात् सुपर्ण इति कथ्यते।

(ii) संसारपारनयनात् सुपर्ण इति वा मतः।

(iii) प्रत्यापन्नसमाधीन् यः समाधेः परिपाकतः।
तमसः पारं नयति सुपर्ण इति कथ्यते॥

आशय यह कि—परम सामर्थ्यवान् होने से, संसार सागर से पार करने से, तथा समाधि का परिपाक होने पर अज्ञान का नाश कर परमपद प्राप्त कराने से भगवान् सुपर्ण कहे जाते हैं।

५—वृद्ध हारीत कहते हैं—**'सुवर्ण एव सुपर्णः वर्णव्यत्ययात्'**।

वे लिखते हैं—

यस्य च्छन्दांसि चाङ्गानि स सुपर्णमिहोच्यते।
अत्राङ्गं वर्णमित्युक्तं छन्दोमयमुदाहृतम्।

(वृ. हा. १०-५२)

तथा च सु शोभनः वर्णः वर्णनं यस्य छन्दःसु स सुपर्णः। अर्थात् वेद मन्त्रों द्वारा वर्णनीय होने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं।

सुपर्ण पद की ब्रह्म-वाचकता—निम्न मन्त्र में सुपर्ण शब्द भगवान् का वाचक है—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश॥

ऋक् १०-११४.५

विप्राः = वेदाभ्यासी **कवयः** = क्रान्तदर्शी अर्थात् भविष्यत् के द्रष्टा और स्रष्टा विद्वान् **सुपर्णम्** = भलीप्रकार जगत् का पालन करने वाले, वेदरूपी ज्ञान के प्रदाता, अज्ञान नाश करके मोक्ष प्रदाता, संसार को नानाविध सुन्दर पदार्थों से परिपूर्ण करने वाले, अत एव सुपर्ण नामधारी भगवान् को **एकं सन्तम्** = एक होने पर भी **बहुधा कल्पयन्ति** = गुण कर्म सामर्थ्य के अनुसार नाना नामों तथा नाना रूपों में कल्पना करते हैं, तथा **अध्वरेषु** = यज्ञों में **छन्दांसि** = वेद मन्त्रों के द्वारा **दधतः** = उन्हीं के आधान तथा स्तवन करते हैं, अथवा उन्हीं के उद्देश्य से आहुति प्रदान करते हैं। तथा **सोमस्य द्वादश ग्रहान् मिमते** = सोमयाग में १२ ग्रह पात्रों की स्थापना करते हैं।

आशय यह कि—वेदवित् तत्त्वदर्शी अज्ञान का नाश करके संसार सागर से पार उतारने वाले सुपर्ण नामधारी भगवान् को नाना नामों और नाना रूपों से स्मरण करते हैं और सोमादि यज्ञों द्वारा भी उन्हीं की उपासना करते हैं।

भागवत में भी भगवान् को सुपर्ण नाम से स्मरण किया है। वहाँ का लेख है—

यं न पश्यन्ति पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत ॥ भाग. ८–१–११

जिसको देखते हुए भी देख नहीं पाते, जिसका ज्ञान अपरिहीण है, तथा जो सबके आश्रय हैं उन भगवान् की ओर चलो।

सुपर्णाय नमः

यम

१—श्री महाराज ने इस शब्द को यम उपरमे धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

यम उपरमे इस धातु से यम शब्द सिद्ध होता है 'यः सर्वान् प्राणिनो यच्छति स यमः' जो सब प्राणियों को कर्म फल देने की व्यवस्था करता है और सब अन्यायों से पृथक् रहता है इसलिये परमात्मा का नाम यम है। (स० प्र० पृ०१२ स्तं० १)

२—निरुक्तकार लिखते हैं **'यमो यच्छतीति सतः'** (निरु० १०–१९)

आशय यह कि **यच्छति उपरमयति जीवितात् सर्वं भूतग्राममिति यमः'** अर्थात् सबके जीवन का संहार करने से भगवान् यम हैं।

३—पुराणकार लिखते हैं—

यम इति लोकहिते नियुक्तः। (वि० पु० ३–७–१५)

तब निर्वचन का स्वरुप होगा **'लोकहिते नियुक्त इति यमः'** अर्थात् संसार का हित करने से भगवान् यम हैं।

४—**यम्यते = नियम्यते जात्यायुर्भोगादिभिः जगदनेन स यमः परमेश्वरः।** अर्थात् जाति आयु और भोग द्वारा सम्पूर्ण संसार का नियमन करने से भगवान् यम कहाते हैं।

५—**नियतं फलं जीवेभ्यो यच्छतीति यमः।** जीवों को यथायोग्य कर्मफल देने से भी भगवान् यम हैं। इस निर्वचन का मूल है **'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान्'** (गी ७·२२) यह गीता वचन।

६—**जगतो नियमने प्रभवतीति यमः।** संसार के नियमन में समर्थ होने से भी भगवान् यम हैं।

यम शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में यम शब्द भगवान् का वाचक है—

यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत् ।
यमाय सर्वमित्तस्थे यत्प्राणद्वायुरक्षितम् ॥

यमः = जगत् का नियमन करने वाले भगवान् **पृथिवीं दाधार** = पृथिवी आदि ग्रह उपग्रहों को स्वस्व कक्षा में संचालित करते हैं । **यमः** = जाति आयु तथा भोग द्वारा जगत् का नियमन करने वाले भगवान् ही **इदं विश्वं जगत्** = इस सम्पूर्ण जगत् को **दाधार** = धारण किये हैं, उसका चालन कर रहे हैं । **वायुः रक्षितम्** = जगत् के ज्ञाता तथा वेदादि शास्त्रों के ज्ञापयिता भगवान् से रक्षित **यत् प्राणत् तत्सर्वम्** = यह संपूर्ण स्थावर जंगम जगत् **यमाय इत् तस्थे** = भगवान् के ही नियंत्रण से स्थित है ।

यमाय नमः

स्वराट्

श्री महाराज ने स्वराट् शब्द का निम्न निर्वचन दिया है—

'यः स्वयं राजते स स्वराट्' स्वराट् जो स्वयं प्रकाश स्वरूप है । (सं० प्र० पृ० ४ स्तं० १)

आशय यह कि भगवान् स्वयंप्रकाश हैं ।

'स्वराट् स्वयमेव वश्यः अकर्मवश्यः विधिनिषेधकिंकरो न भवतीति यावत् ।'

आशय यह कि वह किसी के आधीन नहीं हैं ।

स्वराट् शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में स्वराट् शब्द भगवान् का वाचक है—

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥

(अथ० १८-३-५९)

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः = जो हमारे पितामह प्रपितामह आदि **उरु अन्तरिक्षम्** (अन्तराक्षान्तं = शून्यम्) **आविविशुः** = इस महान् शून्य

में प्रवेश कर गये हैं अर्थात् जिनका स्वर्गवास हो चुका है, [उनको] **असुनीतिः** = प्राणों को प्राप्त कराने वाले अर्थात् पुनर्जन्म देने वाले **स्वराट्** = परम स्वाधीन, जगत् का शासन करने वाले भगवान् **यथावशः** = स्वस्वकर्मानुसार **तन्वः कल्पयाति** = शरीर प्रदान करते हैं। आशय यह कि सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान् मनुष्यों को कर्मानुसार उस उस योनि में जन्म देते हैं, जिससे वे अपने कृतकर्मों का समुचित भोग कर सकें और भविष्य में उन्नति के अधिकारी हों।

स्वराजे नमः

कालाग्नि

इस शब्द पर श्री महाराज का लेख है—

'योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलयकर्ता स कालाग्निरीश्वरः' प्रलय में सबका काल और काल का भी काल है इससे परमेश्वर का नाम कालाग्नि है। (स. प्र. पृष्ठ ४ स्तं. १)

आशय यह कि जगत् के संहारकर्ता होने से भगवान् कालाग्नि हैं।

कालाग्निरूपेण भगवान् जगत् के संहारकर्ता हैं, इस विषय का एक लेख विष्णु पुराण में भी आता है—

ततः कालाग्निरूपोऽसौ भूत्वा सर्वहरो हरिः।
शेषादिश्वाससम्भूतः पातालानि दहत्यधः॥ वि. पु. ६।३।२४

आशय यह कि प्रलय में कालाग्निरूप भगवान् संसार का नाश करते हैं। गीता में भी कहा है—

'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः'।

(गी. ११–३२)

भगवान् कहते हैं कि लोक का नाश करनेवाला मैं ही काल हूँ।

कालाग्नये नमः

दिव्य

इस शब्द के विषय में श्री महाराज का लेख है—

१—'द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवः दिव्यः' दिव्य जो प्रकृत्यादि पदार्थों में व्याप्त। (स. प्र. पृ. ४ स्तं. १)

२—निरुक्तकार लिखते हैं 'दिव्यः दिविजः' (निरु ७।१८)। निरुक्त का यह निर्वचन इस पद को सूर्य का विशेषण मानकर लिखा गया है। आशय यह कि जो व्याप्त तथा प्रकाशमान हैं वे ही भगवान् दिव्य हैं।

दिव्य शब्द का भगवदर्थ प्रयोग—निम्न स्थल में दिव्य शब्द भगवान् का वाचक है—

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु
वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥ यजु० ९-१

हे सवितः देव=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले तथा सत्कार्यों में प्रेरणा करनेवाले देव यज्ञपतिं यज्ञं प्रसुव=आप यज्ञपति को यज्ञ के लिये प्रेरित कीजिये। यज्ञपतिं भगाय प्रसुव=यज्ञपति को ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये प्रेरित कीजिये। केतपूः=अपने पवित्र ज्ञान से संसार को पवित्र करनेवाले गन्धर्वः=वेदवाणी को धारण करनेवाले दिव्यः=विद्याविज्ञान सम्पन्न प्रकाश-स्वरूप भगवान् नः केतं पुनातु=हमारे ज्ञान को पवित्र करें अर्थात् मल-विक्षेप, असम्भावना तथा विपरीतभावना को हमारे चित्त से दूर करें और वाचस्पतिः=वेदवाणी के स्वामी भगवान् नः वाचं स्वदतु=हमारी वाणी को स्वीकार करें। अर्थात् हमारी स्तुति प्रार्थना आदि को सुनकर हम पर कृपा करें।

दिव्याय नमः

गरुत्मान्

इस शब्द के विषय में श्री महाराज ने लिखा है—

१—यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्' जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है। (स० प्र० पृ० ४ स्तं० १)

२—निरुक्तकार लिखते हैं 'गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा' (निरु० ७-१८)। इनमें से प्रथम निर्वचन आधिभौतिक है, दूसरा आध्यात्मिक। द्वितीय का उपादान श्रीमहाराज ने कर लिया है।

३—निरुक्त के व्याख्याकार स्कन्द गरुत्मान् का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं 'गरुत् = गरणं भौमानां रसानाम् रश्मिभिर्गरणेन तद्वान् अथवा गुर्वात्मा सन् गरुत्मान्'। यहाँ भी प्रथम निर्वचन आधिभौतिक एवं सूर्यपरक है। किन्तु 'गरुत् गरणं निगरणं प्रलये सर्वस्य जगतः निगरणेन गरुत्मान् परमेश्वरः, इस प्रकार परमात्मा अर्थ में भी संबद्ध हो ही जाता है। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को प्रलय में निगलने से भगवान् गरुत्मान् हैं।

४—गिरति निगिलतीति गरुत् बलम्, तदस्यास्तीति गरुत्मान् अर्थात् सम्पूर्ण बलों के स्वामी होने से भगवान् गरुत्मान् हैं। श्रुति कहती है—'बलमसि बलं मयि धेहि' (यजु-१९-९)।

गरुत्मान् का ईश्वरार्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर गरुत्मान् शब्द भगवान का वाचक है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद।
भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान
तेजसा दिश उद्दृंह। यजु० १७.७२।

गरुत्मान् = स्वरूपतः महान् बलवान् भगवान **सुपर्णोऽसि** = आप सुपर्ण हैं, क्योंकि आपके पालन पूरण आदि शोभन कर्म हैं, **पृथिव्याः पृष्ठे सीद** = आप पृथिवी पर विराजिये अर्थात् इस विस्तृत जगत् तथा हमारे शरीर को कान्ति युक्त कीजिये। **भासा अन्तरिक्षमापृण** = अपने तेज से हृदयाकाश को भर दीजिये, जिससे वहां अज्ञान का लेशमात्र भी न रह सके। **ज्योतिषा-दिवमुत्तभान** = अपनी ज्योति से द्युलोक (= शिरोभाग = मस्तिष्क) को प्रकाशित कीजिये। **तेजसा दिश उद्दृंह** = अपने तेज से दिशाओं को, हमारे चारों ओर के वातावरण को उद्भासित कीजिये।

आशय यह कि आप गरुत्मान् हैं, न तो आप से अधिक बल किसी के पास है और न शक्ति, अतएव आप सुपर्ण हैं। आपके तेज से यह सब प्रदीप्त हैं, प्रकाशित हैं, उद्भासित हैं। आप मेरे हृदयाकाश में ऐसा प्रकाश करिये जिससे अज्ञान का नाश होकर ज्ञान का उदय हो और मैं भवसागर से तर जाऊं॥

गरुत्मते नमः

मातरिश्वा

इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

१—मातरिश्वा वायु के समान अत्यन्त बलवान्। (स. प्र. पृ. ४ स्तं. १)

इसके निर्वचन का स्वरूप होगा—'मातरिश्वेव मातरिश्वा।'

२—निरुक्तकार ने मातरिश्वा का निर्वचन इस प्रकार दर्शाया है—मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा (७।२६)। यह निर्वचन मातरिश्वा का वायु अर्थ मानकर दर्शाया है। यही निर्वचन अन्तर्गीत ण्यर्थ मानकर ईश्वर पक्ष में भी उत्पन्न हो जाता है। मातरि मातुर्योनौ श्वसिति प्राणयति आशु अनिति आनयति वा स मातरिश्वा भगवान्। अर्थात् जो माता के गर्भ में भी प्राणित करता है वह भगवान् मातरिश्वा हैं।

३—(क) मातरि स्वरूपे श्वयति वर्धते इति मातरिश्वा। अपने स्वरूप में प्रवृद्ध होने से भगवान् मातरिश्वा हैं।

(ख) मीयतेऽनया सा माता यथार्थज्ञानम्, तया श्वयते प्राप्यते इति मातरिश्वा। अर्थात् ज्ञानगम्य होने से भगवान् मातरिश्वा हैं।

मातरिश्वा का भगवद्वाचक प्रयोग—निम्न स्थल पर मातरिश्वा पद भगवान् का वाचक है—

समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥

ऋक् १०-८५-४७

यह मन्त्र विवाह प्रकरण का है। पति-पत्नी भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—विश्वेदेवाः = सभा में स्थित सम्पूर्ण विद्वान् नौ = हम दोनों के हृदयानि = हृदयों को समञ्जन्तु = परस्पर सामञ्जस्य युक्त करें। एवं नौ हृदयानि = इसी प्रकार हम दोनों के हृदय समापः भली प्रकार परस्पर प्राप्त हो। अर्थात् हमारे विचारों में सामञ्जस्य हो और हममें परस्पर सहमत होने का भाव उत्पन्न हो। समुदेष्ट्री = वेद के द्वारा सत्कार्यों का उपदेश देने वाले मातरिश्वा = वायु के समान बलवान्, स्वस्वरूप में प्रवृद्ध, ज्ञानगम्य भगवान् नौ संदधातु = हम दोनों के हृदयों का सन्धान अर्थात् मेल करदें।

आशय यह कि दोनों पक्षों के विद्वान् वृद्ध गण हम को सर्वदा ऐसी प्रेरणा करते रहें, जिससे हम = वर-वधू प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्ता करें, एवं जगत् का धारण तथा पोषण करने वाले, बल तथा शक्ति के भण्डार भगवान् हमारे हृदयों में पारस्परिक सद्भावना तथा प्रेम की सृष्टि करें।

मातरिश्वने नमः

भूमि

इस शब्द पर श्री महाराज ने लिखा है—

१—'भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः' जिसमें सब भूत प्राणी होते हैं इससे परमेश्वर का नाम भूमि है। (स. प्र. पृ. ४ स्तं १)

२—भवति उत्पद्यते स्थावरजङ्गमादिकं जगदस्यामिति भूमिः। जिनसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है इसलिये भगवान् भूमि कहाते हैं।

भूमि पद का ईश्वरवाचकत्व—निम्न स्थल पर भूमि शब्द भगवान् का वाचक है—

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः
सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचा-
ऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ऋक्० १०।१८।११

हे पृथिवि = सबसे प्रसिद्ध तथा सबसे महान् भगवान्, मा = मुझे, उच्छ्वञ्चस्व = उठाइये। अस्मै = इस मुझ प्रार्थी के लिये, सूपायना = अच्छा ज्ञान देनेवाले तथा सूपवञ्चना = अपने सामीप्य द्वारा संसार से तारनेवाले हूजिये। हे भूमे = सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् के उत्पादक भगवान्, यथा सिचा माता पुत्रम् = जैसे माता पुत्र को अपने अंचल से ढक लेती है एवं अभ्यूर्णुहि = इसी प्रकार आप भी मुझको अपने रक्षा के हाथ से आच्छादित करके मेरी रक्षा कीजिये।

आशय यह कि—आप सर्व सामर्थ्ययुक्त हैं, महान् हैं, शक्तिशाली हैं। जैसे माता कष्ट पड़ने पर पुत्र की रक्षा करती है, वैसे ही आप भी मेरी रक्षा कीजिये ॥

भूम्यै नमः

इति श्रीविनोदिन्याख्यायामष्टोत्तरशतनाम-
मालिकाव्याख्यायां 'शन्नोमित्रः'
व्यतिरिक्तमन्त्रान्तर्गत-
नामव्याख्यानरूपं
चतुर्थं प्रकरणम् ।

प्रकरण ४ — नाम संख्या १७
पूर्वागत १८
पूर्ण संख्या ३५

पञ्चम प्रकरणम्

अवशिष्ट नाम

गत चार प्रकरणों में सब मिलाकर ३५ नामों का व्याख्यान कर दिया गया। इस प्रकार १०८ में से शेष ७३ नाम बचे। इन ७३ नामों का **'अवशिष्टनाम'** नाम का पांचवा प्रकरण है। इस प्रकारण का अवान्तर वर्गीकरण करने से ८ वर्ग बनते हैं, जिनका उल्लेख उपोद्घात में हो चुका है।[1] इनमें से प्रथम है **'भूत वाचक वर्ग'** इसमें तीन नाम आते हैं। भूत से अभिप्राय यहाँ महाभूतों से है। इनको भूत इसलिये कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत् इनसे उत्पन्न होता है। इनमें महत्त्व पञ्चीकरण अथवा त्रिवृत्करण से आता है। महत्त्व से आशय है स्थूलरूप धारण करना। ये भूत वाचक शब्द पांच है—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। इनमें से इस प्रकरण में केवल **पृथिवी, जल** तथा **आकाश** इन्हीं तीन नामों का ही व्याख्यान किया जायगा। वायु का व्याख्यान पहले हो चुका है, तेज का पृथक् व्याख्यान महाराजने किया नहीं है।

पृथिवी

१—श्री महाराज इस शब्द को पृथु अथवा प्रथ विस्तारे से बना मानते हैं। आप लिखते हैं :—

(क) पृथु विस्तारे इस धातु से पृथिवी शब्द सिद्ध हुआ है। जो आकाशादिकों से विस्तृत है उसका नाम पृथिवी है। इससे परमेश्वर का नाम पृथिवी है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० ११)

(ख) प्रथ विस्तारे इस धातु से पृथिवी शब्द सिद्ध होता है **'यः प्रथते सर्वं जगत् विस्तृणाति स पृथिवी'** जगत् का विस्तार करने वाला है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम पृथिवी है। (स० प्र० पृ० ८ स्तं० १)

(ग) उणादिसूत्र **'प्रथिम्रदिभ्रस्जाम्'** की व्याख्या करते हुए फिर लिखा है **'प्रथते कीर्तिं वा ख्यापयति पृथुः राजविशेषः प्रख्यातपदार्थो वा'**[2]।

---

१. पृष्ठ १६, १७। २. अगली टिप्पणी पृ० १०६ देखो।

(ii) दूसरे सूत्र 'प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः संप्रसारणं च (१।१५०) इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है—प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी।

यहाँ एक स्थल पर प्रथ का अर्थ प्रख्यान[1] लिया है, दूसरे स्थल पर विस्तार। प्रथम सूत्र में निर्वचन राजविशेष का नाम मान कर किया है, द्वितीय में भूमि का वाचक पृथिवी शब्द स्वीकार किया है और वैसा ही निर्वचन भी किया है।

आशङ्का और समाधान

महाराज के उल्लिखत लेख पर दो आपत्तियाँ उठती हैं—

क—वर्तमान धातुपाठ में 'प्रथ विस्तारे' धातु नहीं मिलती, अपितु 'प्रथ प्रख्याने' धातु मिलती है।

ख—धातु का पाठ 'प्रथ' है नकि 'पृथु'। अतएव उणादिकार ने 'प्रथेः षिवन्षवन्' (१।१५०) आदि सूत्र द्वारा सम्प्रसारण करने का कष्ट उठाया है।

प्रथम प्रकार की आपत्ति करने वालों को अपना अध्ययन विस्तृत करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रथ विस्तारे धातुपाठ में अवश्य ही विद्यमान थी। चाहे 'प्रथ प्रख्याने विस्तारेऽपि दृश्यते' इस रूप में हो अथवा 'प्रथ प्रख्याने विस्तारे च' इस रूप में, अथवा किसी दूसरे रूप में। कारण यह कि अन्य अनेक प्रसिद्ध वैयाकरण इसका उल्लेख करते हैं:—

---

१. वस्तुतः ऋषि दयानन्द प्रथ का प्रख्यान अर्थ मानकर निर्वचन नहीं कर रहे हैं। यह भूल वैदिक यन्त्रालय के पण्डितों की है। उणादिकोष के प्रथम संस्करण में १।२७ की व्याख्या में मूल पाठ इस प्रकार था—'प्रथते कीर्तिं वा विस्तारयति स पृथुः राजविशेषो विस्तीर्णः पदार्थो वा'। उत्तर संस्करणों में किसी अज्ञ ने शास्त्रीजी द्वारा धृत पाठ बना दिया। धातुपाठ के वर्तमान संस्करणों में 'प्रथ प्रख्याने' पाठ उपलब्ध होने से किसी संशोधक ने उक्त पाठ बदला है, परन्तु वह चिन्त्य है। ऋषि दयानन्द सर्वत्र प्रथ का अर्थ विस्तार ही करते हैं। उणादि वृत्तिकार नारायण ने 'प्रथते विस्तीर्यते' (१।१३९) और श्वेतवनवासी ने 'प्रथते विस्तारमुपयाति' (१।१३६) अर्थ दर्शाया है। सायण अथर्व (६।१०।१) के भाष्य में लिखता है—'प्रथस्व च विस्तीर्णशरीरो भव। प्रथ विस्तारे चुरादिरदन्तः।' सम्पा०।

(१) भानुजी दीक्षित ने अमरकोश की व्याख्या में पृथिवी शब्द का निर्वचनादि करते हुए इस शब्द का मूल धातु **'प्रथ विस्तारे'** स्वीकार किया है (द्र० सन् १९२९ मुद्रित निर्णयसागर संस्करण अमरकोश व्याख्या सुधा पृष्ठ १११ स्तं० १)

(२) क्रियाकलाप के कर्ता विजयानन्द लिखते हैं—

विस्तरणे तनोति प्रस्तारयति प्रपञ्चयत्यपि च ।
प्रथयति विस्फारयति विसारयति च ॥

क्रियाकलाप अ० २ श्लो० ३ ।

(३) महावैयाकरण महाकवि वासुदेव स्वकृत धातुकाव्य के २य सर्ग के ४र्थ श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते है **'प्रथ प्रख्याने विस्तारेऽप्यस्ति'** अर्थात् प्रथ का अर्थ जहाँ प्रख्यान है वहाँ विस्तार भी है। महाराज धातु के दोनों अर्थों से परिचित थे, जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट उनकी उणादि सूत्रों की व्याख्या से पता चलता है।[1]

(४) श्रुतिसिद्धान्तसंग्रहकार लिखते **हैं—'प्रथयति = विस्तारयतीति पृथिवी'** अर्थात् इस जगत् का विस्तार करने के कारण भगवान् को पृथिवी कहते हैं। (श्रु० सि० सं० पृ० १०२)

[अन्य कुछ प्रमाण हमने पूर्व टिप्पणी में भी दर्शाए हैं। उन्हें भी यहाँ जोड़ लें। सम्पा०]

द्वितीय आपत्ति का भी कुछ विशेष मूल्य नहीं है। ऐसे भी आचार्य हैं जो इस धातु को ऋकारोपध मानते हैं। आचार्य माधव अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ धातुवृत्ति में लिखते हैं **'अत्र केचित् पृथेति ऋकारोपधमपि पठन्ति'**

---

१. उणादि सूत्रों की व्याख्या से तो यह अभिप्राय व्यक्त नहीं होता, क्योंकि प्रथम संस्करण में 'प्रथते कीर्तिं वा विस्तारयति स पृथुः राजविशेषो- विस्तीर्णः पदार्थो वा, ऐसा ही पाठ था, यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं। हाँ, वेदभाष्य में अनेक स्थान ऐसे हैं जहाँ प्रथ धातु से निष्पन्न शब्दों के अर्थ दर्शाते हुए प्रख्यान अर्थ भी दर्शाया है। यथा—'पृथु–प्रख्यातं वा।' ऋग्भाष्य ५।८०।७॥ 'प्रथमानाः प्रख्याताः।' यजुः २०।४०॥ 'प्रथस्व प्रख्यातो भव।' यजुः १३।२॥ आदि बहुत्र स्थानों में। सम्पा०।

(मा० धा० वृ० पृ० ३४ चौखम्बा संस्करण)। इस प्रकार पृथिवी के संबन्ध में महाराज के लेख सर्वथा उपपन्न है।

महाराज का आशय यही है कि 'विस्तृत आकाशादि से भी विस्तृत होने से तथा इस सम्पूर्ण जगत् का विस्तार करने से भगवान् का नाम पृथिवी है, गीता कहती है—'**त्वया ततं विश्वमनन्तरूप**' (गी. ११. ३८)।

आशय यह कि 'आप इस सम्पूर्ण जगत् का विस्तार करने वाले हैं। यह जगत् का पसारा आप ही ने फैलाया है।

२—आचार्य यास्क ने भी प्रसंगवश निरुक्त में पृथिवी शब्द का निर्वचन किया है। वे लिखते हैं **प्रथनात् पृथिवीत्याहुः······अथ वै दर्शनेन पृथुः**' (निरु. १.१४)। आशय वही **यतः पृथुस्ततः पृथिवी** यतः विस्तृत है अतः पृथिवी है। यद्यपि निर्वचन भौतिक दृष्टि से किया गया है, तथापि सर्वव्यापक होने से परमपृथु भगवान् ही पृथिवी नाम के समुचित अधिकारी हैं।

पृथिवी शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में पृथिवी शब्द भगवान् का वाचक है—

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशिनी।
यच्छास्मै शर्म सप्रथः। अथर्व. १८.२-१९

हे **पृथिवि** = सबसे महान्, सबसे प्रख्यात एवं संपूर्ण जगत् का अव्यक्त से व्यक्तरूप से विस्तार करने वाले **अस्मै** = इस उपासक के लिये **अनृक्षरा** = अकण्टकित हूजिये अर्थात् भव-भीति रूपी कांटों से इसकी रक्षा करिये। **निवेशिनी भव** = इसको स्थान दीजिये। अर्थात् अपने हृदय में इस भक्त के लिये स्थान दीजिये और **अस्मै शर्म यच्छ** = इसका कल्याण करिये।

आशय यह कि आप सबसे प्रख्यात एवं महान् हैं अतः आप से प्रार्थना है कि आप इस भक्त उपासक की भवभीति को दूर करिये तथा इसको अपने हृदय में स्थान दीजिये।

पृथिव्यै नमः

जल

१—श्री महाराज इस शब्द को जल धातु तथा जनी और ला इन दो धातुओं से बनाते हैं। आप लिखते हैं :—

(क) जल प्रतिघाते धातु से जल शब्द सिद्ध होता है 'प्रतिहन्ति परमाण्वादीनि परस्परं तज्जलम्' जो अव्यक्त से व्यक्त को और एक परमाणु से दूसरे परमाणु को अन्योन्य संयोग वियोग के वास्ते जो हनन प्रतिहनन करनेवाला होय उसका नाम जल है। इससे परमेश्वर का नाम जल है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० ११-१२)

(ख) जनी प्रादुर्भावे और ला आदाने इन दो धातुओं से जल शब्द सिद्ध होता है। 'जनयति नाम उत्पादयति सर्वं जगत् तज्जम् लाति गृह्णाति नाम आदत्ते चराचरं जगत् तल्लम् जं च लं च जलम्' ज शब्द से सभों का जनक, ल शब्द से सभों का धारण करनेवाला, उसका नाम जल, जल नाम परमेश्वर का है। स० प्र० प्र० सं० पृ० १२)

इस निर्वचन का मूल 'तज्जलानीति शान्त उपासीत (छा० ३-१४-१) यह उपनिषद् वाक्य प्रतीत होता है।

(ग) जल घातने इस धातु से जल शब्द सिद्ध होता है 'जलति = घातयति दुष्टान् संघातयति अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्' जो दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त परमाणुओं का अन्योन्य संयोग वियोग करता है वह परमात्मा जल है। (स० प्र० पृ० ८ स्तं० १)

२—निम्न अन्य भी निर्वचन इस शब्द के भगवत्-परक हैं—

(क) जलयति अपवारयति दोषान् भक्तेभ्यो ज्ञानिभ्यो वा तत् जलम्। भक्त अथवा ज्ञानियों का दोष निवारण करने से भगवान् जल कहाते हैं। यहाँ धातु जल अपवारणे में है।

(ख) जैः जातैः प्राणिभिः लायते आदीयते इति जलम्'। इनको सब प्राणी पुकारते हैं इसलिये ये जल हैं। श्रुति कहती है 'मां हवन्ते पितरं न जन्तवः' (ऋ० १०-४८-१)। भगवान् कहते हैं संसार के जीव मुझे पिता के सदृश पुकारते हैं।

भगवद्वाचक जल शब्द का निगम अन्वेषणीय है।

जलाय नमः

आकाश

१—श्री महाराज इस शब्द को काशृ दीप्तौ धातु से बनाते हैं। वे लिखते हैं—

(क) काशृ दीप्तौ इससे आकाश शब्द सिद्ध होता है 'आसमन्तात् सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशते स आकाशः' जो परमेश्वर सब जगह से और सब प्रकार से सभों को प्रकाशता है इससे परमेश्वर का नाम आकाश है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. १२)।

(ख) काशृ दीप्तौ इस धातु से आकाश शब्द सिद्ध होता है 'यः सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशयति स आकाशः' जो सब ओर से जगत् का प्रकाशक है इसलिये उस परमात्मा का नाम आकाश है। (स. प्र. पृ. ८ स्तं. १)।

जगत् के प्रकाशक होने का आशय है अव्यक्तावस्थापन्न जगत् को व्यक्त कर देना, प्रकाशित कर देना।

२—आकाश शब्द के निम्न अन्य भी भगवत्परक निर्वचन हैं—

(क) श्रुतिसिद्धान्तसंग्रह में लिखा है 'आसमन्तात् काशते प्रकाशते इत्याकाशः' स्वयंप्रकाश होने से भगवान् आकाश कहाते हैं। (श्रु. सि. सं. पृ. १०१)।

(ख) आसमन्तात् काशन्ते प्रकाशन्ते सूर्यादयोऽत्रेति आकाश। अर्थात् सूर्यादिकों के प्रकाशक होने से भगवान् 'आकाश' कहाते हैं। इस निर्वचन का मूल 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं' तस्य भासा सर्वमिदं विभाति, (मुण्डक २-२-१०) यह उपनिषद् वचन है।

(ग) आसमन्तात् काशयति प्रकाशयति वेदान् सृष्ट्यादौ इत्याकाशः। सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों का प्रकाशक होने से भगवान् को आकाश कहते हैं।

(घ) खे = हृदयाकाशे आसमन्तात् शेते इति 'आखाशः' स एव वर्णव्यत्ययत आकाशः। अर्थात् हृदयाकाश में विराजमान होने से भगवान् आकाश कहाते हैं।

(ङ) आसमन्तात् कशति = गच्छति व्याप्नोतीति यावत् आकाशः। अर्थात् सर्वत्र व्याप्त होने से भगवान् का नाम आकाश है। यहाँ धातु कश-

गतौ है और गति का अर्थ ज्ञान गमन तथा प्राप्ति होते हैं। यहाँ सर्वत्र प्राप्ति ही व्याप्ति है।

आकाश शब्द का ईश्वरवाचकत्व—इस स्थल पर आकाश शब्द परमात्मा का वाचक है—

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते।
(छान्दो० १-९-१)।

अव्यक्त से जगत् को व्यक्त रूपमें लाने वाले आकाश शब्द वाच्य परमेश्वर से ही यह सम्पूर्ण चराचरजगत् उत्पन्न होता है। ब्रह्मसूत्र के कर्ता बादरायण व्यास ने **'आकाशस्तल्लिङ्गात्'** (वे. सू. १-१-२२) आदि सूत्रों द्वारा यह कारणता प्रमाणित की है। यहाँ **आकाशात्** में पञ्चमी **'दण्डात् घटो जायते'** के सदृश निमित्तकारणता में हो रही है।

आकाशाय नमः

**इत्यवशिष्टनामाख्ये पञ्चमे प्रकरणे
महाभूतवाचक-शब्दानामीश्वर-
परत्वनिरूपणपरः
प्रथमो वर्गः**

वर्ग १ नाम संख्या ३

दूसरा वर्ग

इसके अनन्तर **दूसरा वर्ग** उन शब्दों का है जो लोक में नवग्रहों के नाम प्रसिद्ध हैं। लोक में ये शब्द विभिन्न ग्रहों के नाम हैं। उन ग्रहों को स्वतन्त्र देवता मानकर अथवा उन का एक-एक निग्रहानुग्रहसमर्थ अधिष्ठातृदेवता मानकर पौराणिक लोक में इनकी पूजा प्रचलित हैं, विशेषतः विवाहादि शुभ कार्यों में। महाराज की दृष्टि स्पष्ट है। उनका कथन है कि ये नाम ग्रहों के भी हैं, किन्तु ग्रह जड़ होने के कारण न तो वे निग्रहानुग्रह समर्थ हैं और न पूजित होने योग्य ही है। रही अधिष्ठातृदेवता वाली बात, सो सबका वास्तविक अधिष्ठातृ देवता परमात्मा ही है। अतएव जहां-जहां पूजा प्रतिष्ठा आदि का सम्बन्ध है वहां ये नाम भगवान् के ही हैं, जड़ नक्षत्रादिकों के

नहीं। इसी दृष्टि से महाराज ने इनका उल्लेख किया है। इनमें से ८ शब्दों का व्याख्यान करना है, नवें बृहस्पति शब्द का व्याख्यान पहले (पृष्ठ ६९) हो चुका है। वे ये हैं—

सूर्य चन्द्र मंगल बुध
शुक्र शनैश्चर राहु केतु

सूर्य

१—श्री महाराज ने इसका निर्वचन तो नहीं किया है, किन्तु इसके ईश्वरपरक निर्वचन के लिये निर्देश अवश्य किया है। आप लिखते हैं—

(क) 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' यह यजुर्वेद का वचन है। जगत् नाम प्राणियों का जो चलते-फिरते हैं, तस्थुष अप्राणी नाम स्थावर जो कि पर्वत वृक्षादि हैं उन सबों का जो आत्मा होय उसका नाम सूर्य है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. १०)

(ख) 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इस यजुर्वेद के वचन से जो जगत् नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते फिरते हैं तस्थुषः अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ पदार्थ पृथ्वी आदि हैं उन सबके आत्मा होने से और स्वप्रकाशस्वरूप सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम सूर्य है। (स० प्र० पृ० ७ स्तं० १)

इन लेखों में 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः ७।४२) यह लिङ्ग है सूर्य का अर्थ परमेश्वर करने में। 'स्वप्रकाशरूप सबके प्रकाशक होने से यह भगवान् का स्वतःप्राप्त स्वरूप तथा कार्य बताया गया है, निर्वचन से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। शब्द के प्रकृति प्रत्यय के सम्बन्ध में यहाँ कुछ नहीं कहा गया है। इस मन्त्र में भगवान् की सर्वात्मकता बताई गई है। इस दृष्टिसे निर्वचन होगा 'सरतीति सूर्यः' यहाँ धातु 'सृ गतौ' है। 'गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति' प्राप्ति है प्रकृष्टा आप्ति, यही व्याप्ति है। तब आशय यह हुआ कि सर्वत्र व्याप्त होने से भगवान् सूर्य कहाते हैं।

२—निरुक्तकार सूर्य का व्याख्यान करते हुए लिखते हैं—'सूर्यः सर्तेर्वा, सुवतेर्वा, स्वीर्यतेर्वा' (निरु० १२-१४)। इन धातुओं से निम्न निर्वचन होंगे—

(क) सरतीति सूर्यः। अर्थात् चलने या गति करने से इसे सूर्य कहते हैं।

(ख) सुवति प्रेरयति कर्मसु चराचरं जगत् स सूर्यः । सूर्योदय होने पर सम्पूर्ण जगत् अपने अपने कामों में लग जाता है। यह निर्वचन षू प्रेरणे से किया गया है।

(ग) सुष्ठु ईर्यते संचाल्यते स्वमण्डलमनेनेति, यद्वा स्वीर्यते उपताप्यते जगदनेनेति सूर्यः । जो अपने मण्डल का सञ्चालन करते हैं तथा इस संसार को गर्म करते हैं, इसलिये सूर्य कहाते हैं । यहाँ 'सु' उपपद 'ईर गतौ कम्पने च' अथवा 'स्वृ शब्दोपतापयोः' धातु है । निरुक्तकार के ये निर्वचन भौतिक सूर्य की दृष्टि से हैं, किन्तु ये ही निर्वचन भगवत्परक भी हो सकते हैं । जैसे—

(क) सरति जानाति व्याप्नोति वा सर्वं जगत् स सूर्यः । अर्थात् सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक होने से भगवान् सूर्य हैं ।

(ख) सुवति प्रेरयति चराचरं स्वस्वकर्मसु इति सूर्यः । सम्पूर्ण जगत् के प्रेरक होने से भगवान् सूर्य हैं । गीता में कहा है 'अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गीता १०-८) ।

(ग) सुष्ठु ईर्यन्ते कम्प्यन्ते, स्वीर्यन्ते उपताप्यन्ते वा दस्यवः अनेनेति सूर्यः । अर्थात् दुष्टों का उपतापन करने से भगवान् सूर्य कहाते हैं ।

३—निघण्टु-व्याख्याकार यज्वा महोदय ने दो अन्य निर्वचनों का निर्देश 'सूर्य' शब्द की व्याख्या में किया है । आप लिखते हैं :—

(क) सूरयो मेधाविनस्तानर्हतीति सूर्यः ।

(ख) सूरिषु साधुः इति सूर्यः ।

ये दोनों निर्वचन परमेश्वर में सुसङ्गत हो जाते हैं । भगवान् को मेधावी पुरुष ही पा सकते हैं, तथा मेधावियों के प्रति वे साधु भी हैं । सूरि का लक्षण किया गया है—

आत्मन्येव गतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाचले ।
ते सूरा इति विख्याताः सूरयश्चापि ते मताः ॥

आशय यह कि सूर तथा सूरि दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं और जो अविचल भाव से भगवान् का ध्यान करने वाले हैं, भगवान् से प्रेम करते हैं वे 'सूर' या 'सूरि' कहाते हैं ।

४—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैतानुसारी भाष्य में इस शब्द का निर्वचन किया है—सूते **श्रियमिति सूर्यः'** अर्थात् विभूति के उत्पादक होने से भगवान् सूर्य हैं। इस निर्वचन का मूल—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्॥ (गीता १०.४१)

इस गीता वचन में निहित है।

(ख) विशिष्टाद्वैतानुसारी भाष्य में लिखा है—**'सरत्यस्मादिति सूर्यः'** क्योंकि उनके भय से यह सम्पूर्ण संसार अपने नियमित रूप में चल रहा है इसलिये उन्हें सूर्य कहते हैं। इस निर्वचन का मूल **'भीषाऽस्मात् पवते वातः भीषोदेति सूर्यः'** (तै. उ. ब्रह्म. खं ८) यह उपनिषद् वचन है।

५—आचार्य वररुचि निरुक्तसमुच्चय में इस शब्द का निर्वचन एक दूसरे प्रकार से करते हैं। वे लिखते हैं—**सु अर्यः स्वामी सर्वस्य'** (नि० स० पृ० १८)। अर्थात् सबके स्वामी होने से भगवान् सूर्य हैं।

६—अन्य निवर्चन इस प्रकार हैं—

(क) **सुवति प्रेरयति पुरुषादृष्टम् इति सूर्यः।** जीवों के अदृष्टों को फलोन्मुख होने की प्रेरणा करने से भगवान् सूर्य कहाते हैं।

(ख) निघण्टु में स्वृ धातु पूजार्थक भी पढ़ी है—**'स्वरतिरर्चतिकर्मा'** (निघण्टु ३-१)। **स्वीर्यते अर्च्यते भक्तैरिति सूर्यः'** अर्थात् भक्तजनों द्वारा पूजित होने से भगवान् सूर्य कहाते हैं।

सूर्य पद का ईश्वरवाचकत्व—निम्न मन्त्र में सूर्य शब्द ईश्वर का वाचक है—

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमा भासि रोचनम्॥ अथर्व १३-२-१९

हे सूर्य सर्वप्रेरक परमात्मन्, **त्वं तरणिः असि** =आप बुद्धियोग रूपी नौका प्रदान करके हमारे तारक हो—**'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'** (गीता १०-१०)। अतएव आप **विश्वदर्शतः** =सबके साक्षात्करणीय हैं। अर्थात् सबको आपका साक्षात्कार करना चाहिये। **ज्योतिष्कृदसि** = आप ही सब ज्योतिर्मय पिण्डों के रचयिता हैं। श्रुति कहती है **'चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्योऽजायत'** (यजुः ३१-१२)। अथवा हृदय में

ज्योतिः = प्रकाश करने वाले हो। श्रीमद्भागवत में भगवान् की स्तुति करते हुए कहा गया है—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां,
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वनाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्,
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥ (भग० ४-९-३)

आशय यह कि जो भगवान् हृदय में प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति द्वारा इस प्रसुप्त वाणी का सञ्जीवन करते हैं तथा अन्यान्य अङ्गों और प्राणों का सञ्चालन करते हैं उनको मेरा प्रणाम हो। त्वं विश्वं रोचनमाभासि = सम्पूर्ण दृश्य जगत् के रोचक अर्थात् प्रकाशक भी (रुच दीप्तौ) आप ही हैं। उपनिषत् कहती है 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ ५-११)।

सूर्याय नमः

चन्द्र

१—इस शब्द को महाराज ने चदि आह्लादे धातु से बनाया है। वे लिखते हैं—

(क) चदि आह्लादे इस धातु से चन्द्र शब्द सिद्ध होता है 'चन्दति सोऽयं चन्द्रः' जो आह्लाद नाम आनन्द रूप होय और जो मुक्त पुरुष जिसको प्राप्त हो के सदा आनन्द स्वरूप ही रहै उसको दुःख का लेश कभी न होय इससे परमेश्वर का नाम चन्द्र है। (स. प्र. प्र.सं. पृ. १४)

(ख) चदि आह्लादे इस धातु से चन्द्र शब्द सिद्ध होता है 'यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः' जो आनन्द स्वरूप और सब को आनन्द देने वाला है इसलिये ईश्वर का नाम चन्द्र है।

(स. प्र. पृ० ८ स्तं. २)

आशय यह कि स्वयं आनन्दरूप होने तथा अन्यों को आनन्द देने वाले होने से भगवान् चन्द्र कहाते हैं।

(ग) उणादिकोष के 'स्फायितञ्चिवञ्चि' (२।१३) आदि सूत्र का व्याख्यान करते हुए लिखा है—'चन्दति हर्षयति दीपयति वा स चन्द्रः'।

यह निर्वचन आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दृष्टियों से समुचित है। ध्यान रहे कि चदि धातु का अर्थ दीप्ति भी है **चदि आह्लादने दीप्तौ च।**

२—निरुक्तकारने चन्द्रमा शब्द के प्रसंग में चन्द्र शब्द का भी निर्वचन किया है। यास्क लिखते हैं—**'चन्द्रः चन्दतेः कान्तिकर्मणः'** (निरु. ११.५) अर्थात् चन्द्र शब्द कान्ति अर्थ वाली चदि धातु से बनता है। इससे प्रतीत होता है कि यास्क के काल में इस धातु का अर्थ कान्ति भी रहा होगा। निर्वचन का स्वरूप होगा **'चन्दति = कान्तिमान् भवतीति चन्द्रः'**। सर्वापेक्षया अधिक कान्तिमान् होने से भगवान् चन्द्र हैं।

३—विष्णुसहस्रनाम के—

विशिष्टाद्वैतानुसारी भाष्यकार श्रीरंगनाथ लिखते हैं—**स्वमन्तॄणां क्रमहारितया चन्द्रः**। अर्थात् जो भगवान् पर निर्भर रहते हैं वे उनके कष्टों का निवारण करते है। गीता में कहा भी है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गी० ९-२२)

४—निम्न अन्य भी चन्द्र शब्द के निर्वचन हैं—

(क) चमन् द्रवतीति चन्द्रः। प्रलय काल में सब वस्तुओं का भक्षण करते हुए उन्हें प्राप्त होने से भगवान् का नाम चन्द्र है।

(ख) चारु द्रवतीति[1] चन्द्रः, चारु पुना रुचेर्विपरीतस्य (निरु० ११।५)। तेजःस्वरूप से भगवान् प्राप्तव्य हैं अतः चन्द्र हैं। श्रुति कहती है—**भर्गो देवस्य धीमहि** (ऋक् ३-६२-१०)। चन्द्रमा पक्ष में यही निर्वचन इस प्रकार होगा **'रुक् द्रवत्येनम्'** अर्थात् जिसे प्रकाश प्राप्त होता है, जिसका अपना प्रकाश नहीं है। इस निर्वचन का मूल है **'सुषुम्णा सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः'** (यजु० १८-४०) यह मन्त्र। आशय यह कि सुषुम्णा नामवाली सूर्य की किरणों से चन्द्रमा प्रकाशित होता है।

चन्द्र शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में चन्द्र शब्द परमात्मा का वाचक है—

चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि यच्छकेयम्।
तेनध्र्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि। छान्दोग्य ब्रा० १।६।१२॥

---

1. **द्रमतीति. पाठा०। सम्पा०।**

हे **व्रतपते** = अपने सृष्टि संहार जगदाह्लादन आदि व्रत का पालन करने-वाले **चन्द्र** = परम तेजस्वी कमनीय स्वरूप भगवन् **व्रतं चरिष्यामि** = मैं आज से व्रत करूँगा **तत्ते प्रब्रवीमि** = मैं उसके विषय में आपको पूर्व से ही बताता हूँ **तच्छकेयम्** = आपकी कृपा से मैं उस व्रत का पालन कर सकूँ, **तेनर्ध्यासम्** = उससे मैं समर्थ होऊं **इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि** = यह मैं अनृत से सत्य की ओर आता हूँ। ब्राह्मण का वचन है 'अनृतं मनुष्याः सत्यं देवाः'[1]। तब आशय यह होगा कि मैं मनुष्यत्व से देवत्व की ओर बढ़ने का व्रत ले रहा हूँ आपकी कृपा से यह परिपूर्ण हो।

चन्द्राय नमः

मङ्गल

१—श्री महाराज ने इसे गत्यर्थक मगि धातु से बनाया है। वे लिखते है :—

(क) 'मगि धातुर्गत्यर्थः' जो आप तो मंगल स्वरूप है ही और सब जीवों के मंगल का वही कारण है इससे परमेश्वर का नाम मंगल है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १९)

(ख) मगि इस गत्यर्थक धातु से मङ्गेरलच्[2] इस सूत्र से मंगल शब्द सिद्ध होता है 'यो मङ्गति मङ्गयति वा तन्मङ्गलम्' जो आप मंगल स्वरूप और सब जीवों के मंगल का कारण है इसलिये उस परमेश्वर का नाम मंगल है। (स० प्र० पृ० ९ स्तं० १)

(ग) उणादिकोष में 'मङ्गेरलच्' (५।७०) की व्याख्या करते हुए आप लिखते हैं—'मङ्गति प्राप्नोति सुखं येन तन्मङ्गलं ब्रह्म'। परम सुख का प्रापक होने से भगवान् मंगल हैं।

आशय यह कि कल्याण स्वरूप होने से भगवान् का नाम मंगल है।

२—निरुक्तकार ने इस शब्द का प्रासङ्गिक निर्वचन किया है। वे लिखते हैं—'मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे. गिरत्यनर्थानिति वा मज्जयति पापमिति

१. तुलना करो—सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। शतपथ १।१।१।४॥ आदि बहुत्र। सम्पा०। २. उणादि ५।७०॥ सम्पा०।

नैरुक्ताः, मां गच्छतु इति वा' (निरु० ९-४)। अत्र निर्वचन इस प्रकार होंगे :—

(क) **मां गृणात्यनेन तन्मङ्गलम्**। जिनसे मेरी स्तुति की जाय वे मङ्गल हैं। इस अवस्था में वैदिक ऋचायें स्तोत्रादि मङ्गल पद वाच्य होंगे। अतएव प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में अपने अपने सम्प्रदाय की पद्धति के अनुसार मंगल किया जाता है।

(ख) **अनर्थान् गिरतीति मङ्गलम्**। अर्थात् अनर्थ के नाशक को भी मंगल कहते हैं। अतएव प्रत्येक कार्य भगवन्नाम स्मरणपूर्वक किये जाते है। कहा भी है '**ब्रह्म तन्मङ्गलं परम्**'।

(ग) **मज्जयतीति मङ्गलम्**। दुरित का नाश करके जो शुद्ध करे, उसे मङ्गल कहते हैं। भगवान् के स्मरण मात्र से ही, यदि वह सच्चे हृदय से किया जाय तो सम्पूर्ण दुरित नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य पवित्र हो जाता है। कहा भी है—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। (बृहन्नारदीय १-११-१००)

(घ) **मां गच्छतु इति मङ्गलम्**। मुझे प्राप्त हो इस इच्छा का विषय होने से भगवान् मंगल कहाते हैं। जो भगवान् को मानते हैं, उनके हृदयों में यह इच्छा होती ही है। यह निर्वचन ठीक उसी प्रकार का है, जैसा मनु का मांस शब्द का निर्वचन। वह है '**मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्**' (मनु० ५-५५)।

(ङ) यास्काचार्य ने एक निर्वचन यह भी किया है '**अङ्गलं (मंगलम्)**' (९।४)। इसमें मकार उपजन है। **यः अङ्गैः, योगाङ्गैः लायते आदीयते प्राप्यते तन्मङ्गलम्**। यम नियमादि योगाङ्गों से प्राप्य होने के कारण भगवान् मंगल है। भगवत्प्राप्ति के लिये अष्टाङ्ग योगानुष्ठान उपयोगी है, यह प्रसिद्ध ही है।

३—एक अन्य भी निर्वचन इस शब्द का भगवत्परक दृष्ट है—

मङ्गं = जननमरणादिरूपं सर्पणं = संसरणं लाति आदत्ते विनाशयतीति यावत् तन्मङ्गलं परमेश्वरः।

मंगल शब्द का ईश्वरपरक प्रयोग—निम्न स्थल पर मङ्गल शब्द भगवान् का वाचक है—

असौ यस्ताम्रो अरुण
उत बभ्रुः सुमङ्गलः ।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु
श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे । यजुः० १६-६

यः असौ = जो ये ताम्रो अरुण उत बभ्रुः = जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय करने वाले हैं मङ्गलः = स्वयं सुख स्वरूप होकर सबको सुख देने वाले, दुरित विनाशक, योगज्ञों द्वारा ज्ञेय अतएव मङ्गल नाम वाले भगवान् से से हम ईमहे = याचना करते हैं कि ये एतम् अभितो दिक्षु सहस्रशः रुद्राः श्रिताः = ये जो अनेक जीव आपके आश्रित हैं एषां हेडः = इनके दुःख कष्ट आदि को अव (यज) = दूर कीजिये । आशय यह है कि सुख स्वरूप दुःखों के नाशक मंगल नामधारी भगवान् ही दुःख दुरितों का निवारण कर सकते हैं तथा प्रत्येक प्रकार के अनादर से जीवों की रक्षा कर सकते हैं ।

मङ्गलाय नमः

बुध

इस शब्द को महाराज ने 'बुध अवगमने' धातु से बनाया है । आप लिखते हैं—

(क) बुध अवगमने इस धातु से बुध शब्द सिद्ध होता है । 'बुध्यते सोयं बुधः' जो आप तो बोधस्वरूप हो और सब जीवों के बोध का कारण होय इससे परमेश्वर का नाम बुध है ।

(स० प्र० प्र० सं० पृ० १४)

(ख) बुध अवगमने इस धातु से बुध शब्द सिद्ध होता है 'यो बुध्यते बोधयति वा स बुधः' जो स्वयं बोध स्वरूप और सब जीवों के बोध का कारण है इसलिये उस परमेश्वर का नाम बुध है ।

(स० प्र० पृ० ९ स्तं०) ।

आशय यह कि बोध स्वरूप होने से भगवान् बुध कहाते हैं तथा सबके प्रबोधक होने से भी उन्हें बुध कहते हैं ।

बुध शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है ।

बुधाय नमः

शुक्र

१—श्री महाराज इस शब्द को 'ईशुचिर पूतीभावे' धातु से बनाते हैं। आप लिखते हैं:—

(क) ईशुचिर पूतीभावे इस धातु से शुक्र शब्द सिद्ध होता है। शुचि नाम अन्यन्त पवित्र का जो अपना अत्यन्त पवित्र होय औरों की पवित्रता का कारण होय इससे परमेश्वर का नाम शुक्र है।

(स. प्र. प्र. सं. पृ. १४)।

(ख) ईशुचिर पूतीभावे इस धातु से शुक्र शब्द सिद्ध होता है 'यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्रः' जो अत्यन्त पवित्र और जिसके संयोग से जीव भी पवित्र होता है इसलिये ईश्वर का नाम शुक्र है।

(स. प्र. पृ. ९ स्तं. १)।

आशय यह कि स्वयं शुद्ध तथा परशोधक होने से भगवान् शुक्र कहाते हैं।

आक्षेप तथा उत्तर—इस पर यह आक्षेप है कि पूतीभाव शब्द का अर्थ है सड़ना[1], तब इसमें पवित्रता कहाँ से प्रविष्ट हुई। इसके निम्न उत्तर हैं—

(क) इस धातु का एक दूसरा अर्थ पवित्रता भी माना गया है। देखिये धातुकाव्य सर्ग २ श्लोक ६० की व्याख्या करते हुए महावैयाकरण वासुदेव लिखते हैं **'ईशुचिर् पूतीभावे दुर्गन्धिभावस्तत्।[2] शौचविवरणक्लेशेषु च[3] द्रुमे।** आशय यह कि यद्यपि पूतीभाव का अर्थ दुर्गन्ध है, तथापि शौच (शुद्धि) आदि अनेक अर्थों में इसका प्रयोग होता है, जैसा कि 'द्रुम' में लिखा है। द्रुम से आशय कविकल्पद्रुम से है।

(ख) वस्तुतः 'पूतीभाव' शब्द अभूततद्भाव अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय कर के पूत शब्द से बना है, जिसकी रचना पूङ् पवने से हुई है। अतएव इकार दीर्घ

---

१. यह अर्थ साधारण वैयाकरणों की दृष्टि से किया है। यह वास्तविक अर्थ नहीं है, इसकी उपपत्ति ग्रन्थकार आगे अनुपद करेंगे। सम्पा०।

२. हमारे विचार में 'पूतीभाव' का अर्थ 'दुर्गन्धि' अनुचित है। यदि 'पूतिभावे' पढ़ा जाए तो ठीक हो सकता है। सम्पा०।

३. द्रुम = कविकल्पद्रुम चान्तवर्ग में 'शुचिर्यञी शौचे विशरणे क्लेदे' पाठ है। अतः यहाँ भी शुद्ध पाठ 'शौचविशरणक्लेदेषु च' होना चाहिए। सम्पा०।

है।[1] दुर्गन्धार्थ शब्द 'पूतिभाव' है। इसमें इकार ह्रस्व है और यह शब्द 'पूयी विशरणे दुर्गन्धे च' इस पूय धातु से क्तिन् प्रत्यय करके बनता है। अतएव न इस शब्द का उक्त अर्थ है और न उसके इस प्रकार की आशङ्का के लिये कोई स्थान ही है।

२—यास्क ने इस शब्द की उत्पत्ति शुच दीप्तौ धातु से मानी है। आप लिखते हैं '**शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः**' (निरु. ८-११)। शुक्र शुच धातु से बनता है जिसका अर्थ दीप्ति प्रकाश है। ईश्वर की दृष्टि से भी यह निर्वचन अत्यन्त समुचित है। भगवान् स्वयंप्रकाश हैं तथा अन्य सबको प्रकाशित करने वाले हैं। निर्वचन का स्वरूप होगा—**शोचति स्वयं प्रकाशते शोचयति प्रकाशयति चान्यत् तत् शुक्रं ब्रह्म**।

३—निघण्टु के व्याख्याकार देवराज यज्वा इस शब्द के विषय में लिखते हैं—'**यद्वा शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः सम्पदादित्वात् (३.३.९५) क्विप् शुच्, तद् यस्य रो मत्वर्थीयः**, दीप्तमित्यर्थ (पृ० १२८) आशय यह कि दीप्त्यर्थक शुच धातु से क्विप् प्रत्यय करके शुक् शब्द बना, फिर उससे मतुप् अर्थ में 'र' प्रत्यय करके शुक्र शब्द बनता है। तब शुक्र शब्द का अर्थ होगा प्रदीप्त या दीप्तिमान् भगवान्। भगवान् दीप्तिमान् हैं ही।

४—यास्कीय निरुक्त के व्याख्याता स्कन्द भी '**शुचेर्दीप्तार्थस्य शुक् रो मत्वर्थीयः**'[2] लिखकर यज्वा महोदय से अपनी सहमति प्रकट कर रहे हैं।[3]

५—वैयाकरण शुच शोके से शुक्र बनाते हैं, जो अर्थ की दृष्टि से नितान्त असंगत है। यदि इस धात्वर्थ को ईश्वर में संगत करना हो तो विग्रह का रूप होगा '**शोचयत्यन्यायकारिणो दुष्टानिति शुक्रः परमात्मा**' अर्थात् दुष्टों को दण्ड देकर शोकयुक्त करने से परमात्मा का नाम शुक्र है।

---

१. काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड़ टीका में 'पूतीभावे' का अर्थ 'पवित्र होने में' ही किया है। द्र० पृ० २०४। सम्पा०।

२. निरुक्त टीका ८।११ में 'शुक् दीप्तिः रो मत्वर्थे' पाठ है। सम्पा०।

३. वस्तुतः स्कन्द स्वामी देवराज यज्वा से कई शताब्दी पूर्ववर्ती है। देवराज स्वयं बहुत्र स्कन्द को उद्धृत करता है। यहां पर ग्रन्थकार ने पहले देवराज का मत उद्धृत किया, पीछे स्कन्द का, अत एव उक्त प्रकार वाक्य विन्यास किया है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि लेखक स्कन्द को देवराज का उत्तरवर्ती मानता है। सम्पा०

(ख) शुक गतौ से भी शुक्र बनता है। निर्वचन का स्वरूप होगा— 'शोकति जानाति व्याप्नोति वा सर्वं जगत् स शुक्रः परमात्मा'। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने अथवा जानने से (सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञ होने से) भगवान् शुक्र हैं। यद्यपि यह धातु धातुपाठ में सम्प्रति उपलब्ध नहीं है तथापि यह धातु कभी रही अवश्य है।[1] भानुजी दीक्षित ने अमरकोष की व्याख्या सुधा में शुक्र शब्द पर इस धातु का उल्लेख किया है। देवराज यज्वा महोदय ने निरुक्त व्याख्या में इसका निर्देश दिया हैं।[2]

शुक्र शब्द का परमात्मार्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर शुक्र शब्द परमात्मा का वाचक है—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि। स यथा त्वं भ्राजता
भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम्। अथर्व १७.१.१९

हे भगवन् आप शुक्रोऽसि = स्वयं पूत एवं अन्यों के पावक, सर्वव्यापक, एवं सर्वज्ञ होने से शुक्र नाम से पुकारे जाते हैं। आप ही भ्राजोऽसि = ज्ञानमय हैं, प्रकाशस्वरूप हैं। स यथा त्वं भ्राजोऽसि = वे आप जिसप्रकार प्रकाश एवं ज्ञान के अखण्ड भंडार हैं, एवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् = इसी प्रकार मैं भी आप के ज्ञान से आप की दीप्ति से प्रदीप्त होऊं, ऐसी कृपा आप मुझ पर करें।

शुक्राय नमः

शनैश्चर

१—इस शब्द को महाराज ने शनैस् पूर्वक चर धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) चर गतिभक्षणयोः इस धातु से शनैस् अव्यय पूर्वपद से शनैश्चर सिद्ध होता है जो अत्यन्त धैर्यवान् होय और सब संसार के धैर्य का कारण होय इससे परमेश्वर का नाम शनैश्चर है। (स. पृ. प्र. सं. पृ. १४)

---

१. क्षीरस्वामी धातुपाठ की क्षीरतङ्गिणी वृत्ति में इसे पढ़ता है। द्र० ११८६, पृष्ठ ३२॥ सायण ने धातुवृत्ति में इसे अनार्ष कह कर हटा दिया है। अत एव साम्प्रतिक धातुपाठ में यह धातु नहीं मिलती। सम्पा०।

२. मूलं मृग्यम्। सम्पा०।

(ख) चर गतिभक्षणयोः इस धातु से शनैस् अव्यय उपपद होने से शनैश्चर शब्द सिद्ध हुआ है 'यः शनैश्चरति स शनैश्चरः' जो सबमें सहज से प्राप्त धैर्यवान् है इससे उस परमेश्वर का नाम शनैश्चर है। (स० प्र० पृ० ९स्तं० १)

उतावलेपन में धीरज नहीं होता और जहां धीरज होता है वहां उतावलापन नहीं होता, अपितु कार्य शनैः शनै किया जाता है इसलिये शनैस् का भाव धीरज (धैर्य) निकलता है न कि उसका अर्थ, यह ध्यान रखना चाहिये।

२—इस शब्द का निर्वचन इस प्रकार भी किया जा सकता है **शणति = ददाति, शानयति = तेजयति वा शनैः = दाता तेजस्वी च। चरतीति चरः शनैश्चासौ चरश्चेति शनैश्चरः।** दाता अथवा तेजस्वी को कहते शनैः, ज्ञाता-ज्ञापयिता तथा भक्षणकर्ता हुआ चर, अतः दाता, तेजस्वी, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा सर्वसंहारक भगवान् हुए शनैश्चर।

अथवा तेज से जगत् को प्राप्त होके उसका तपन करने से भी भगवान् शनैश्चर कहाते हैं। गीता में कहा ही है—'**पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्**' (गी० ११० १९)

शनैश्चर शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है।

शनैश्चराय नमः

राहु

१—इस शब्द को श्री महाराज ने रह त्यागे धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) रह त्यागे इस धातु से राहु शब्द सिद्ध होता है। जो सबसे एकान्त स्वरूप होय, जिसमें कोई भी मिला न होय और सब त्यागियों के त्याग का हेतु होय इससे परमेश्वर का नाम राहु है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १४)।

(ख) रह त्यागे इस धातु से राहु शब्द सिद्ध होता है 'यो रहति परित्यजति दुष्टान् राहयति त्याजयति वा स राहुरीश्वरः' जो एकतास्वरूप जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं जो दुष्टों को छोड़ने

और अन्य को छुड़ाने हारा है, इससे परमेश्वर का नाम राहु है। (स० प्र० पृ० ९ स्तं० १)।

राहु शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है।

राहवे नमः

केतु

१—श्री महाराज ने इस शब्द को 'कित निवासे रोगापनयने च' इस धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) 'कित निवासे रोगापनयने च' इससे केतु शब्द सिद्ध होता है जो सब जगत् का निवासस्थान होय और सब रोगों से रहित होय मुमुक्षुओं के जन्ममरणादिक रोगों के नाश का हेतु होय, इससे परमेश्वर का नाम केतु है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १४)।

(ख) 'कित निवासे रोगापनयने च' इस धातु से केतु शब्द सिद्ध होता है। 'यः केतयति चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः' जो सब जगत् का निवासस्थान सब रोगों से रहित और मुमुक्षुओं को मुक्ति समय में सब रोगों से छुड़ाता है। इसलिये परमात्मा का नाम केतु है। (स० प्र० पृ० ९, स्तं० १)

२—निरुक्त की व्याख्या करते हुए दुर्ग ने प्रसंगतः केतु शब्द की रचना पर प्रकाश डाला है। उनका कथन है—'कित ज्ञाने, तस्य केतः, केतुरपि तस्यैव' (निरु. ३।१३; पृ. २१६ खेमराज श्रीकृष्णदास सं०)। अब केतु का निर्वचन होगा—केतति जानातीति केतुः। अर्थात् सर्वज्ञ होने से भगवान् केतु हैं। अथवा—केतयति ज्ञापयति विविधा विद्याः पुरुषेभ्य इति केतुः। अर्थात् पुरुषों को वेद द्वारा नाना ज्ञान देने से ही भगवान् केतु कहाते हैं। 'कित ज्ञाने' धातु इस समय धातुपाठ में अनुपलब्ध है, अधिक सम्भव है दुर्ग के समय रही हो।[1] इसके अतिरिक्त यही उपलब्ध धातुपाठ ही थोड़े ही था। अन्य भी वैयाकरणों के अपने अपने धातुपाठ थे, जो इस समय उपलब्ध

---

१. क्षीरतरङ्गिणी २।२०; पृष्ठ १९५ पर यह धातु पठित है। सम्पा०।

नहीं होते। इनकी सत्ता का निश्चय भिन्न-भिन्न हेतुओं से किया जाता है। साथ ही इस उपलब्ध धातुपाठ के भी दो प्रवचन (Version) थे।[1]

३—वैयाकरण चायृ पूजानिशामनयोः से **चायः की** (उणादि १।७४) सूत्र द्वारा केतु शब्द बनाते हैं। तब निर्वचन होगा—**चाय्यते पूज्यते यः स केतुरीश्वरः**। सर्वजगत् से पूजित होने से भगवान् केतु हैं।

४—कोई कोई 'कृञ् करणे' धातु से भी केतु बनाते हैं। तब निर्वचन होगा—**करोतीति केतुः**। अर्थात् सर्वकर्ता होने से भगवान् केतु हैं।

५—यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कित धातु के निवास और रोगापनयन के अतिरिक्त भी अनेक अर्थ हैं। जिनका निर्देश 'च' से किया गया है। वासुदेव धातुकाव्य के २-४१ की व्याख्या में लिखते हैं '**कित निवासे रोगापनयने च, संशयनिग्रहापनयनाशनादयश्चार्थाः**' तब निर्वचनों के अर्थ होंगे—**केतति = निगृह्णाति दुष्टान्, अपनयति दोषान्, अश्नाति च जगत् प्रलये इति केतुरीश्वरः**' दुष्टों का निग्रह करने, दोषों को दूर करने, तथा प्रलय में जगत् का भक्षण करने से भगवान् केतु हैं।

केतु शब्द का परमात्मा अर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर केतु शब्द परमात्मा का वाचक है—

मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत।
दूरे दृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत॥

ऋक् १०-३७-१

हे मनुष्यो **सूर्याय** = चराचर के आत्मा **मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे** = इहलोक तथा परलोक के प्रकाशक **महो देवाय** = दिव्यगुण वालों में महनीय **दूरे दृशाय** = विवेकादि साधन सम्पन्न दूरदर्शी पुरुषों से साक्षात्क्रियमाण **देवजाताय दिवस्पुत्राय** = सूर्यादि देवों के उत्पत्तिकारण तथा उनके पालक **केतवे** = सर्वजगत् के निवास स्थान, सर्वदुःखनिवारक, सर्वज्ञ, सर्वपूज्य होने से केतु नाम से प्रसिद्ध भगवान् के लिये **नमः शंसत** = नमस्कार करो तथा **ऋतम्** = उस सत्यस्वरूप ब्रह्म को **सपर्यत** = परिचरित करो।

---

१. **औदीच्य और प्राग्देशीय। दाक्षिणात्य उपलब्ध नहीं, था अवश्य। द्र० क्षीरतरङ्गिणी की हमारी भूमिका पृष्ठ १५, तथा सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग २, पृष्ठ ५६, ५७। सम्पा०।**

आशय यह कि चराचर के स्वामी सर्वगुण सम्पन्न भगवान् के प्रति प्रणत होना तथा उनकी परिचर्या करना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। उल्लिखित अर्थ में निम्न प्रमाण है—

(क) सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (यजु. ७-१२)।

(ख) अयं वै लोको मित्रोऽसौ वरुणः। (शतपथ १२।९।२।१२)

(ग) दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

(कठ. १-३-१२)

(घ) सपर्यतिः परिचरणकर्मा। (निरु. ३-५-३)

केतवे नमः

इत्यवशिष्टनामाख्ये पञ्चमे प्रकरणे
नवग्रहवाचकशब्दानामीश्वर-
परत्वनिरूपणपरः
द्वितीयः वर्गः

वर्ग २ नाम संख्या ८
पूर्वागत ३
सम्पूर्ण ११

तृतीय वर्ग

तीसरा वर्ग उपनिषदन्तर्गत ब्रह्मवाचक शब्दों का है। कुछ शब्द ऐसे हैं जो उपनिषदों में ब्रह्म वाचक माने गये हैं। उनका भी व्याख्यान श्री महाराज ने अपने ग्रन्थ में ईश्वरनामावली में किया है। ये नाम संख्या में १९ है। इनकी तालिका निम्न है :—

सत्य ज्ञान अनन्त सत् चित् आनन्द
नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त अद्वैत
अन्न अत्ता अन्नाद कूटस्थ
स्वयम्भू आत्मा कवि
सविता

सत्य

१—इस शब्द के विषय में महाराज लिखते हैं :—

(क) अस्तीति सत् सते हितं सत्यम्' जो सब दिन रहे जिसका नाश कभी न होय इससे परमेश्वर का नाम सत्य स्वरूप है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १६) ।

आशय यह कि उसका नाम भी सत्य है और स्वरूप भी सत्य है। यहाँ सत्य शब्द 'देहलीदीपकन्याय' से दोनों ओर अन्वित होता है।

(ख) जो पदार्थों में हो उनको सत् कहते हैं। उनमें साधु होने से ही परमेश्वर का नाम सत्य है। (स० प्र० पृ० १० स्तं० १)

आशय यह कि परम सत्य होने तथा सत्पुरुषों का कार्य साधक होने से भगवान् सत्य कहे जाते हैं।

२—बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है 'तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यमिति, स इत्येकमक्षरं, तीत्येकमक्षरं, यमित्येकमक्षरम्। प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यम् मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति' (बृह. ५-५-१) यहाँ पर बताया गया है कि सत्य शब्द तीन अक्षरों से बना है स ति और यम्। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि यम् अयम् का रूप है और निरुक्त के 'अथापि वर्णलोपो भवति' (२।२) वाली शैली से बना है।

तब आशय यह हुआ कि सति अयम् यह सब दृश्य जगत् सत् में हैं और सत् में होने से ही 'सत्य' कहाता है 'सत्य' प्रतीत होता है।

३—निरुक्तकार सत्य का निर्वचन करते हैं—सत्यं कस्मात् सत्सु तायते, सत्प्रभवं भवतीति वा' (निरु० ३-१३)। यद्यपि ये निर्वचन आधिभौतिक दृष्टि से हैं, तथापि भगवन् परक भी हो सकते हैं :—

(क) सत्सु विद्यमानेषु पदार्थेषु तायते सन्ततो भवति इति सत्यम्।

(ख) सतो मूलकारणात् जगत् तायते विस्तारयति इति सत्यम्।

(ग) सतः सत्पुरुषान् तायते पालयति इति सत्यम्।

आशय यह है कि सब पदार्थों में विद्यमान होने से, एक सत् मूल कारण से जगत् की रचना करने से, अथवा मनुष्यों का पालक होने से भगवान्

सत्य कहाते हैं। इनमें से दूसरे निर्वचन का मूल है **'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'** (गीता ९–१०) यह गीता वचन है।

४—स्कन्दस्वामी निरुक्त की व्याख्या करते हुए सत्य शब्द की भगवत्परता दिखाते हुए कहते हैं **'अन्यस्तु परमार्थलक्षणं ब्रह्म शाश्वतं सत्यम् तदपि सत्सु विकारेषु महदादिषु तायते प्रकाशते, अस्तीति ज्ञायते इत्यर्थः'** (भाग २, पृष्ठ १६०) अर्थात् सब पदार्थों में सत्त्वेन प्रतीयमान होने से भगवान् 'सत्य' कहाते हैं।

५—विष्णुसहस्रनाम के—

(i) अद्वैतानुसारी भाष्य में सत्य शब्द पर लिखा है—

(क) अवितथरूपत्वात् परमात्मा सत्यः।

(ख) सत्यवचनरूपत्वात् सत्यः।

(ग) सत्सु साधुत्वात् सत्यः।

आशय यह कि त्रिकालाबाध्य होने से, उनके वचन तथा उनका धर्म सत्य है इसलिए, तथा सत्पुरुषों के कार्य साधक होने से भगवान् 'सत्य' हैं। इनमें से प्रथम निर्वचन का मूल है **'सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः'** (महा० उद्योग पर्व ७०-७२) यह भारत वाक्य।

(ii) भगवद्गुणदर्पण भाष्य में लिखा है—

(क) सत्ये प्रतिष्ठितः सत्यं वा यस्मिन् प्रतिष्ठितं स सत्यः।

(ख) सात्त्विकशास्त्रप्रतिपाद्यतया सत्यः।

(ग) सत्यत्वेन सतां मतः सत्यः।

आशय यह कि जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है अथवा जो सत्य में प्रतिष्ठित हैं, वेदादि सात्त्विक शास्त्रों द्वारा प्रतिपाद्य हैं अथवा जिसको सत्पुरुष सत्य समझते हैं, इसलिये वे भगवान् सत्य हैं।

६—बाह्वृच सन्ध्यापद्धतिभाष्य में लिखा है **'सत्यः उत्तमज्ञानानन्दस्वरूपः'**। अपने अर्थ की पुष्टि में ग्रन्थकार ने तन्त्र भागवत का निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

सच्छब्द उत्तमं ब्रूयाद् आनन्दं तीति वै वदेत्।
येति ज्ञानं समुद्दिष्टं पूर्णानन्दद्दशिस्ततः॥

स० भा० स० पृ० ९–१०

सत्य शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर सत्य शब्द भगवान् का वाचक है—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमोऽधिश्रितः॥ऋक्० १०।८५।१

सत्येन=जगत् के मूल कारण से जगत् का विस्तार करने से सत्यनाम धारण करनेवाले भगवान् ने **भूमिः**=भूलोक **उत्तभित्ता**=धारण कर रखा है। **सूर्येण**=सम्पूर्ण पदार्थों में विद्यमान होकर सबको नियमितगति में रखने वाले उन्हीं भगवन् ने **द्यौः उत्तभिता**=प्रदीप्त ग्रहनक्षत्रादि से सुशोभित द्युलोक धारण किया है। यदि वे धारण न करें तो यह सब परस्पर विश्रृङ्खलित होकर परस्पर टकराकर खण्ड खण्ड हो जायं। **ऋतेन**=सत्य से ही **आदित्याः**= सम्पूर्ण नित्य पदार्थ **तिष्ठन्ति**=अपने स्वरूप में स्थिर हैं।

आशय यह कि सब नित्य पदार्थों का नित्यत्व उन्हीं सत्य की सत्यता पर निर्भर है। **दिवि**=भगवान् के तेजःस्वरूप में ही **सोमः**=यह सम्पूर्ण प्रसूत जगत् **अधिश्रितः**=आश्रित है। कहने का आशय यह कि यह सब जगत् उन्हीं की शक्ति पर आश्रित है, वे ही इसे नियम में चला रहे हैं।

उपनिषत् में भी सत्य नाम भगवान् का आया है। उपनिषत्कार कहते हैं **'सत्यं ह्येव ब्रह्म'** (बृ० ५।४।१)। **'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्'** (छा० ७।१६।१)।

सत्याय नमः

ज्ञान

१—इस शब्द के विषय में महाराज लिखते हैं—

(क) ज्ञानस्वरूप होने से परमेश्वर का नाम ज्ञान है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० २६)

(ख) जो चराचर जगत् का जानने वाला है इससे परमेश्वर का नाम ज्ञान है। (स० प्र० पृ० १० स्तं० १)

इस अवस्था में निर्वचन होगा **'ज्ञानस्वरूपो भवति, जानाति वा चराचरं जगत् तत् ज्ञानं ब्रह्म'**। आशय यह कि ज्ञान स्वरूप होने से अथवा सम्पूर्ण जगत् का ज्ञाता होने से भगवान् ज्ञान कहाते हैं।

२—'ज्ञानमस्त्यस्मिन्निति ज्ञानम्' यह भी एक निर्वचन है।

ज्ञान शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है। तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।१ के 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' वचन में 'ज्ञान' को ब्रह्म कहा है।

ज्ञानाय नमः

अनन्त

१—इस शब्द पर महाराज लिखते हैं—

(क) जिसका अन्त नाम सीमा कभी नहीं अर्थात् देश काल और वस्तु परिच्छेद नहीं। जैसे कि मध्य देश में दक्षिण देश नहीं, दक्षिण देश में मध्य देश नहीं, भूतकाल में भविष्यत्काल नहीं और दोनों में वर्तमान काल नहीं तैसे ही पृथिवी आकाश नहीं और आकाश पृथिवी नहीं, ऐसा भेद परमेश्वर में नहीं है। ऐसा ब्रह्म ही है किन्तु 'सब देशों सब कालों और सब वस्तुओं में अखण्ड एक रस होने से, और कोई भी जिसका अन्त न ले सके इससे परमेश्वर का नाम अनन्त है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. १७)।

इस अवस्था में निर्वचन का स्वरूप होगा—नास्ति अन्तो यस्य स अनन्तः।

(ख) जिसका अन्त अवधि मर्यादा अर्थात् इतना लम्बा चौड़ा छोटा बड़ा है ऐसा परिमाण नहीं है, इसलिये परमेश्वर का नाम अनन्त है। (स. प्र. पृ. १० स्तं. १)

इस प्रकार भगवान् नित्य तथा सर्वव्यापक ठहरते हैं।

(ग) उणादिसूत्र 'हसिमृग्रिण्वामि' (३।८३) की व्याख्या करते हुए महाराज लिखते हैं—अमति गच्छतीत्यन्तः न अन्तो यस्य स अनन्तः' अर्थात् गतिरहित सर्वव्यापक होने से भगवान् अनन्त हैं।

२—अथर्वशिर उपनिषत् इस विषय में इस प्रकार कहती है—'अथ कस्मादुच्यते अनन्तः यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते' आशय यह कि अनन्त पद कहने से ऊपर नीचे, इधर-उधर सब ओर से अपरिच्छिन्नता का भान होता है। इस लेख से केवल दैशिक अनन्तता का ही बोध होता। किन्तु दैशिक उपलक्षण है कालादि का भी।

३—विष्णुसहस्रनाम की—

(क) अद्वैतानुसारिणी व्याख्या में लिखा है—'नित्यत्वात् सर्वगतत्वात् देशकालपरिच्छेदाभावाद् अनन्तः'। आशय यही कि नित्य निरवच्छिन्न होने से भगवान् अनन्त कहाते हैं।

(ख) निरुक्ति टीका में लिखा है—

देशतः कालतो वापि गुणतो वस्तुतोऽपि वा।
अवधिर्यस्य नास्तीति सोऽनन्तः परिकीर्तितः॥

देश, काल, वस्तु तथा गुणों से अपरिच्छेद्य होने से भगवान् अनन्त है। अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म (देश, काल तथा वस्तु) त्रिविध प्ररिच्छेद शून्य हैं। क्योंकि उनके सिद्धान्त में ब्रह्म निर्गुण है। वैष्णव दृष्टिकोण से भगवान् निखिलगुणगणाकर हैं अतः वे गुणपरिच्छेद शून्य भी हैं। इस विशिष्टाद्वैत वैष्णव सिद्धान्त में ब्रह्म शब्द पारिभाषिक है 'जड़, जीव, ईश्वर' इस समुदित के लिये; और ईश्वर के साथ जड़ तथा जीव का शरीर-शरीरिभाव है। अर्थात् ईश्वर शरीरी है और जड़ और जीव उसके शरीर हैं। शरीर तथा शरीरी में अभेद की दृष्टि से इनके सिद्धान्त में भी वस्तुपरिच्छेद बन जाता है।

ब्रह्म, ईश्वर अथवा परमात्मा सर्वव्यापक तथा नित्य होने से देश तथा काल परिच्छेद शून्य है, यह तो सर्वसम्मत है। किन्तु द्वैत मानने वाले किसी भी सम्प्रदाय में ब्रह्म वस्तुपरिच्छेदशून्य नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म, ईश्वर अथवा परमात्मा से भिन्न सम्पूर्ण जगत् भी उसी के सदृश सत्य है, तथा उससे भिन्न भी है। अत एव ब्रह्म जीव नहीं है अथवा जड़ नहीं है यह वस्तुपरिच्छेद उस में रह ही जायगा। विशिष्टाद्वैतियों ने इसका समाधान ईश्वर तथा जड़, जीव में शरीरशरीरिभाव मानकर कर दिया। आशय यह कि वस्तुपरिच्छेद न होना बनता तो नहीं था, इस प्रकार बना दिया एक विशेष प्रकार से, ब्रह्म शब्द को परिभाषिक बना कर। वस्तुपरिच्छेद शब्द को जैसा का तैसा ही रहने दिया।

द्वैत पक्ष में वस्तुपरिच्छेदशून्यता—महाराज ने वस्तुपरिच्छेद शब्द का अर्थ बदल दिया। जहाँ अब तक वस्तुपरिच्छेद का अर्थ था एक वस्तु का दूसरी वस्तु न होना, वहां महाराज ने इसकी परिभाषा की "एक वस्तु का दूसरी वस्तु में न रहना'। अब भगवान् जब कि सर्वाधार एवं सर्वाश्रय हैं तब सब वस्तुओं में हैं ही। गीता में कहा ही है 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'

(गीता ७.७) । स 'ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' (यजु. ३२.८) यह श्रुति भी ऐसा ही कहती है। तब भगवान् सर्वत्र सब में विद्यमान होने से वस्तुपरिच्छेदशून्य हो ही गये। महाराज की दृष्टि से वस्तुपरिच्छेदशून्यता है 'एक वस्तु का सब वस्तुओं में रहना।' यही बात उन्होंने 'सब वस्तुओं में अखण्ड एक रस होने से' ऐसा लिखकर व्यक्त की है।

अनन्त शब्द भगवद्वाचक—निम्न स्थल पर अनन्त शब्द परमात्मा का वाचक है—

अनन्तनामधेयाय सर्वाकारविधायिने।
समस्तमन्त्रवाच्याय विश्वैकपतये नमः॥

सर्वाकारविधायिने = सब आकारों के बनाने वाले अर्थात् इस सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् के रचयिता समस्तमन्त्रवाच्याय = सब मन्त्रों के वाच्य अर्थात् सम्पूर्ण वेदमन्त्रों से प्रतिपाद्य विश्वैकपतये = संसार के एक ही स्वामी अनन्तनामधेयाय = देश, काल तथा वस्तुपरिच्छेदशून्य होने से अनन्त नामधारी भगवान् को नमः = मेरा नमस्कार हो।

महाभारत शान्तिपर्व में भी कहा है—

तं चापि देवं शरणं प्रपन्नमेकान्तभावेन भजाम्यजस्रम्।
एतैरुपायैः परिशुद्धसत्त्वः कस्मान्न पश्येयमनन्तमेनम्॥

अनन्ताय नमः

सत्

१—इसके विषय में महाराज लिखते हैं—

(क) सत् शब्द का अर्थ सत्य के व्याख्यान में जान लेना। (स. प्र. प्र. सं० पृ. १७)

वहां पर सत् का निर्वचन कर चुके हैं 'अस्तीति सत्' अर्थात् विद्यमान होने से भगवान् सत् कहाते हैं।

(ख) अस भुवि इस धातु से सत् शब्द सिद्ध होता है 'यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत् सद् ब्रह्म' जो सदा वर्तमान अर्थात् भूत भविष्यत् वर्तमान कालों में जिसका बाध न हो उस परमेश्वर को सत् कहते हैं। (स. प्र. पृ. १० स्तं. १)

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैतानुसारी भाष्यकार लिखते हैं 'अवितथं परं ब्रह्म'। आशय यही कि त्रिकालाबाध्य होने से भगवान् सत् कहाते हैं।

(ख) विशिष्टाद्वैतानुसारी भाष्यकार लिखते हैं—

(i) उक्तकर्मप्रशस्तत्वात् सत्। अर्थात् प्रशस्त कर्मवान् होने से भगवान् सत् हैं, उन्हें सत् कहा जाता है।

(ii) एवं नित्यनिरुपाधिकसद्भावसाद्गुण्याभ्यां सत्। अर्थात् नित्य एवं निरुपाधिक = सत्त्व एवं साद्गुण्य भगवान् में ही है, अतः वे सत् कहाते हैं। इन निर्वचनों का आधार निम्न गीता वाक्य हैं—

प्रशस्ते कर्मणि तथा सत्-शब्दः पार्थ युज्यते।
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते॥
ओम् तत् सदितिनिर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

(गीता १७०–२६, २३)

३—विष्णु पुराण की दृष्टि में भगवान् के योगिध्येय रूप का नाम सत् है। पुराणकार लिखते हैं—

द्वितीयं विष्णुरूपस्य योगिध्येयं महामते।
अमूर्तं ब्रह्मणो रूपं यत् तत्सदित्युच्यते बुधैः॥ वि० पु० ६-७० ६९

सत् का परमवाचत्व निम्न स्थल सत् शब्द ब्रह्म का वाचक है—
वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सत् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वमोतः स प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥

यजुः ३२।८॥

गुहा निहितम् = पंचकोशों की इस गुफा में छिपे हुए तत् सत् = उस परम सत्य होने से सत् कहाने वाले परमात्मा को वेनः = ज्ञानी ही पश्यत् = देख पाता है। यत्र = जिस ज्ञानी की दृष्टि में विश्वम् एकनीडम् (एकायनम्) भवति = यह संसार एक रूप है, एकाधार है, अतः न उसे किसी से राग है न द्वेष, न उसके लिये कोई बुरा है न भला। क्योंकि उपनिषत् कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानु पश्यति।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ ईश० ७।

यस्मिन् इदं सर्वं समेति व्येति च = जिसकी आज्ञा से इस जगत् का संकोच तथा विस्तार होता है, **स विभूः** = वे ही सद्-रूप भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं और **प्रजासु ओतः प्रोतश्च** = इस सम्पूर्ण स्थावर जंगमात्मक जगत् में ओत प्रोत हैं।

सते नमः

चित्

१—श्री महाराज ने इस शब्द को चिती संज्ञाने से बनाया है। वे लिखते हैं—

(क) ज्ञान शब्द के व्याख्यान से चित् शब्द का अर्थ जान लेना।
(स. प्र. प्र. सं० पृ० १७)

आशय यह कि चित्स्वरूप होने से परमेश्वर का नाम चित् है।

(ख) चिती संज्ञाने इस धातु से चित् शब्द सिद्ध होता है 'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनः तत् चित् परं ब्रह्म' जो चेतन स्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्यासत्य का जानने हारा है इसलिये उस परमात्मा का नाम चित् है। (स. प्र. पृ० १० स्तं० १)

२—निरुक्तकार ने इस शब्द को निपात भी माना है और नाम भी। आप लिखते हैं 'चितास्त्वयि भोगाः चेतयस इति वा' (निरु. ५-७)। यह इस प्रकार निर्वचन उदाहृत मन्त्र की दृष्टि से किया गया है। निर्वचनों का साधारण रूप यह होना चाहिये **'चिता अस्यां भोगाः चेतयत इति वा'**। जिस चित् शब्द का यहाँ अभिप्राय प्रकट किया गया है वह उदात्त धर्मवान् पशुवाची है।

३—निरुक्तव्याख्याकार स्कन्द स्वामी चित् का निर्वचन अञ्चु से भी करते हैं। वे लिखते हैं **'अञ्चिता अस्यां भोगाः'** साथ ही **'सञ्चिता अस्यां भोगाः'** यह निर्वचन भी मानते हैं (निरुक्त टीका ५-७)। ये निर्वचन इसी दृष्टि से किये गये हैं।

चित् शब्द का भगवान् अर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय।

चिते नमः

आनन्द

१—श्री महाराज इस शब्द को टुनदि समृद्धौ से बनाते हैं। आप लिखते हैं :—

(क) टुनदि समृद्धौ इससे आनन्द शब्द सिद्ध होता है जो सब समृद्धिमान् सदा आनन्दस्वरूप और मुमुक्षुओं को जिसकी प्राप्ति से सब समृद्धि और नित्यानन्द के होने से परमेश्वर का नाम आनन्द है।

(स. प्र. प्र. सं. पृ. १०)

(ख) टुनदि समृद्धौ आङ्पूर्वक इस धातु से आनन्द शब्द बनता है 'आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता अस्मिन् यद्वा यः सर्वान् जीवानानन्दयति स आनन्दः' जो आनन्द स्वरूप जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते हैं और सब धर्मात्मा जीवों को आनन्द युक्त करता है इससे ईश्वर का नाम आनन्द है। (स. प्र. पृष्ठ १७)

इन निर्वचनों के मूल में 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १.१.१२) यह वेदान्तसूत्र तथा 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तै. उ. २.९) उपनिषद् वाक्य निहित है।

ऊपर सत् तथा चित् शब्दों का उल्लेख हो चुका है अतः महाराज ने इतना और लिख दिया है—'इससे परमेश्वर को सच्चिदानन्दस्वरूप कहते हैं। (स. प्र. पृ. १७) अर्थात् सत् स्वरूप होने से सत्, चित् स्वरूप होने से चित् और आनन्द रूप होने से आनन्द, और तीनों को एकत्रित करके उन्हें 'सच्चिदानन्दस्वरूप' कहा गया है।

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैतानुसारी भाष्यकार लिखते हैं—'आनन्दः स्वरूपमस्येति आनन्दः।' अर्थात् आनन्द स्वरूप होने से भगवान् आनन्द है।

(ख) विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायानुसारी भाष्यकार लिखते हैं 'आनन्दवल्ली-प्रोक्तो वाङ्मनसदुर्ग्रहो महानानन्दोऽस्यातीति आनन्दः' अर्थात् आनन्द-वल्ली प्रोक्त अवाङ्मनसगोचर आनन्द जिसमें है वे भगवान् आनन्द कहाते हैं

आनन्द शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल में आनन्द शब्द भगवान् का वाचक है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'..........'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्। (तै० उ० ३-६)

आनन्दात् ह्येव = स्वयं आनन्द स्वरूप होने से तथा अन्यों को आनन्द प्रद होने से आनन्द कहाने वाले भगवान् से ही यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है आनन्द से ही इसकी स्थिति है और वे ही आनन्द इसके प्रलय के कारण हैं और यह 'आनन्द' ब्रह्म है।

आनन्दाय नमः

नित्य

श्री महाराज लिखते हैं--

(क) 'सदकारणवन्नित्यम्'[1] जो सत्स्वरूप होय और कारण जिसका कोई भी न हो इससे परमेश्वर का नाम नित्य है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १७)

(ख) 'यो नित्यध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः' जो निश्चल अविनाशी है सो नित्य शब्द वाच्य ईश्वर है। (स० प्र० पृ० १० स्तं० २)।

दोनों अवस्थाओं में निर्वचनों के स्वरूप होंगे 'नियमेन भवं नित्यम्, नियते भवः नित्यः'।

नित्य शब्द का भगवद्वाचकत्व में प्रयोग अन्वेषणीय है।

नित्याय नमः

शुद्ध

श्री महाराज ने इस शब्द को शुन्ध शुद्धौ से बनाया है। आप लिखते हैं-

(क) शुन्ध शुद्धौ इससे शुद्ध शब्द सिद्ध होता है जो आप तो शुद्ध होय जिसको कुछ मलीनता के संयोग का लेश कभी न होय और

१. वैशेषिक ४।१।१ ॥

सब शुद्धियों के हेतु होने से परमेश्वर का नाम शुद्ध है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १७)।

(ख) शुन्ध शुद्धौ इससे शुद्ध शब्द सिद्ध होता है 'यः शुन्धति सर्वान् शोधयति वा स [शुद्ध] ईश्वरः' जो स्वयं पवित्र सब अशुद्धियों से पृथक् और सबको शुद्ध करने वाला है इससे उस ईश्वर का नाम शुद्ध है। (स० प्र० पृ० १० स्तं० २)।

आशय यह कि स्वयं शुद्ध तथा परशोधक होने से भगवान् का नाम 'शुद्ध' है।

(ग) शुध शौचे से भी शुद्ध बन सकता है 'शुद्ध्यति शोधयति वा स शुद्धः' अर्थात् जो स्वयं शुद्ध है तथा परशोधक है।

शुद्ध शब्द का ब्रह्मवाचकत्व में निगम अन्वेषणीय है। हां, 'सपर्यगाच्छुक्रमकायम्' आदि यजुः (४०।८) में ब्रह्म के लिए शुद्ध विशेषण का प्रयोग मिलता है।

शुद्धाय नमः

बुद्ध

श्री महाराज इस शब्द को बुध अवगमने धातु से बनाते हैं। आप लिखते हैं—

(क) बुध अवगमने इस धातु से बुद्ध शब्द सिद्ध होता है जो सब बोधों का परमावधि नाम परम सीमा होने से परमेश्वर का नाम बुद्ध हैं। (स० प्र० प्र० स० पृ० १७)।

कहा भी है—

यस्य ज्ञेयावधिज्ञानं शिक्षावधि च शासनम्।
कार्यावधि च कर्तव्यं स स्वयम्भूः पुनातु नः॥

(ख) बुध अवगमने इस धातु से क्त प्रत्यय होने से बुद्ध शब्द सिद्ध होता है 'यो बुद्धवान् सदैव ज्ञातास्ति स बुद्धो जगदीश्वरः' जो सदा सबको जानने हारा है इससे ईश्वर का नाम बुद्ध है। (स० प्र० पृ० १० स्तं० २)

आशय यह कि परम ज्ञाता होने से भगवान् बुद्ध कहाते हैं। उपनिषत् कहती है–'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृह० ३-७-२३)

बुद्ध शब्द का भगवान् के अर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है।

बुद्धाय नमः

मुक्त

श्री महाराज इस शब्द को मुच्लृ मोचने से बनाते हैं। आप लिखते हैं—

(क) मुच्लृ मोचने इस धातु से मुक्त शब्द सिद्ध होता है जो आप तो सदा मुक्त रूप होय और सब मुक्त होने वालों के मुक्ति के साक्षात् हेतु होने से परमेश्वर का नाम मुक्त है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १७)

(ख) मुच्लृ मोचने इस धातु से मुक्त शब्द सिद्ध होता है 'यो मुञ्चति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः' जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग और सब मुमुक्षुओं को क्लेश से छुड़ा देता है इसलिए परमात्मा का नाम मुक्त है। (स० प्र० पृ० १० स्तं० २)

इन लेखों से निम्न आशय निकलते हैं—

१—परमात्मा स्वयं सदा मुक्त हैं, इसलिए उनको मुक्त कहते हैं। अर्थात् वैसे तो मुक्त शब्द बद्ध-सापेक्ष है, किन्तु परमात्मा के विषय में निरपेक्ष है।

२—मुक्तिप्रदाता होने से भी मुक्त कहाते हैं, क्योंकि इस संसार के बन्धनों से जीव को मुक्त कराते हैं।

इन दोनों स्थलों पर अन्त में महाराज ने निम्न वाक्य लिखे हैं—

(क) ये सब मिलके एक ऐसा नाम हो जायगा 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः' जो स्वभाव ही से नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्त होने से परमेश्वर का नाम 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव' है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. १७)

(ख) अतएव 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः' इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्यशुद्धबुद्धमुक्त है। (स. प्र. पृ. १० स्तं. २)।

आशय यह कि यद्यपि नित्य आदि पृथक् पृथक् भी ईश्वर के नाम हैं जैसे सत् आदि, और समुदित 'सच्चिदानन्द' की तरह 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव' भी परमात्मा का एक समुदित नाम है।

जो वस्तु के साथ ही नष्ट हो, न उससे पूर्व विद्यमान हो और न पश्चात् रहे, वह वस्तु का स्वभाव कहाता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि यावद्-वस्तुस्थायी अपरिवर्तनीय धर्म वस्तु का स्वभाव होता है। जैसे अग्नि का स्वभाव है उष्णता या दाहकता। यह अग्नि का गुण जबतक अग्नि है, तब तक उसमें अपरिवर्तनीय रूप से रहता है और उसके साथ ही नष्ट होता है, पूर्व नहीं; अतः यह अग्नि का स्वभाव है। महाराज की दृष्टि से प्रथम पक्ष में समास होगा—**स्वभावात् नित्यः शुद्धः बुद्धः मुक्तश्चेति नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावः'** परमात्मा। द्वितीय पक्ष में समास होगा—**नित्यः शुद्धः बुद्धः मुक्तः स्वभावो यस्य स नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमात्मा।** इस प्रकार समास भेद से उत्पन्न होने वाले अर्थों का निर्देश पूर्व किया जा चुका है।

भगवान् शंकर ने नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। वे कहते हैं—ब्रह्म नित्य है, शुद्ध है, बुद्ध है, मुक्त है और स्वभाव है। उपनिषत् कहती हैं **'नित्यो नित्यानाम्'** (कठ. २-१३) **'अस्नाविरं शुद्धम्'** (ईश-८), **'चेतनश्चेतनानाम्'** (कठ. २-१३), **स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि'** (छो. ७-२४-१) इस अवस्था में सर्वपदप्रधान द्वन्द्व समास होगा—**नित्यश्च शुद्धश्च बुद्धश्च मुक्तश्च स्वभावश्च = नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाः, ते सन्त्यस्येति नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावः परमात्मा।**

मुक्त शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है।

मुक्ताय नमः

अद्वैत

यह शब्द दार्शनिक क्षेत्र में विशेष प्रसिद्ध है, तथा अपनी विशेष स्थिति रखता है। अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में इसका अपना विशेष ही अर्थ है। श्री महाराज ने इसको इसीलिये अपनाया है कि इस पर दूसरी दृष्टि से भी समुचित प्रकाश डाला जावे। आपने इसका जो व्याख्यान किया है उससे प्रतीत होता है कि आप इसको द्वैत पक्ष में संगत करने में परम सफल हुए हैं। आप लिखते हैं—

(क) 'द्वयोर्भावः द्विता द्वितैव द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं यस्मिन् यस्य वा तदद्वैतम्' दोनों विद्यमान ईश्वरों का जो होना उसका नाम द्विता है। द्विता जिसको कहते हैं उसी का नाम द्वैत है। नहीं है विद्यमान द्वैत जिसमें जिसको वा उसका नाम अद्वैत है। अद्वितीय और अद्वैत परमेश्वर का ही नाम है। (स प्र० प्र० सं पृ २०)

(ख) 'द्वयोर्भावो द्विता, द्वाभ्यामितं द्वीतं वा सैव तदेव वा द्वैतम् न विद्यते द्वैतम् द्वितीयेश्वरभावो यस्मिन् तदद्वैतम् अर्थात् सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य ब्रह्म' दोनों का होना व दोनों से युक्त होना वह द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत, इससे जो रहित है। सजातीय जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है, विजातीय जैसे मनुष्य से भिन्न जाति वाला वृक्ष पाषाणादि, स्वगत अर्थात् शरीर में जैसे आंख नाक कान आदि अवयवों का भेद है वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर, विजातीय ईश्वर व अपने आत्मा में तत्त्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है इससे परमात्मा का नाम अद्वैत है।

(स० प्र० पृ० ११ स्तं २)

इन दोनों लेखों को तथा स० प्र० प्र० सं० के 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इस उपनिषत् का व्याख्यान करने वाले लेख[1] को पढ़ने से निम्न परिणाम निकलता है—

(क) सजातीय पद का अर्थ समानजातीय नहीं, अपि तु 'सदृश गुण वाला', अन्य स्वजातीय अथवा एक जातीय जैसे शुक्ल गौ शुक्ल गौ का सजातीय है, कृष्ण गौ कृष्ण गौ का सजातीय है।

(ख) इसी प्रकार विजातीय का अर्थ है—'विरुद्ध गुणवाला स्वजातीय' जैसे शुक्ल गौ कृष्ण गौ का विजातीय है। इसीलिये महाराज ने लिखा है **'वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर विजातीय ईश्वर'** और सजातीय, विजातीय शब्दों का उक्त अर्थ मान लेने पर ही ईश्वर सजातीय भेद शून्य हो सकता है, अन्यथा नहीं।

अब देखिये ईश्वर का स्वजातीय = ईश्वरजातीय दूसरा वैसा समान गुणवाला कोई नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर का विजातीय अर्थात् दूसरा ईश्वर विरुद्धगुण वाला भी कोई नहीं है। अतः ईश्वर सजातीय-विजातीय-भेद-शून्य है। रहा

१. द्र०—स० प्र० प्र० सं० पृष्ठ २० के आरम्भ में। सम्पा०

स्वगत भेद, सो वह तो नित्य निरवयव होने से स्वतः प्राप्त है। द्वैतपक्ष में प्रकारान्तर से अथवा सीधे अर्थों का ग्रहण करने से ईश्वर सजातीय-विजातीय-भेद-शून्य प्रमाणित नहीं हो सकता। इसलिए आचार्य ने जो विशिष्ट व्याख्या की है। वह आचार्य की प्रौढ विद्वत्ता का उत्कृष्ट प्रतीक है।

सजातीय विजातीय शब्दों के दार्शनिक क्षेत्र में प्रचलित एवं प्रमाणीकृत अर्थ उक्त अर्थों से भिन्न हैं। वहाँ सजातीय का अर्थ है—सदृश अथवा समान जातिवाला, न कि एक जाति का समान गुणवाला। अतः पशु पशु का सजातीय है कृष्ण गौ शुक्ल गौ की सजातीय है। क्योंकि सब पशु चाहे घोड़ा हो या गधा, बैल हो या बकरी, हैं पशुजातीय ही, अतः सजातीय हैं। इसी प्रकार कृष्ण तथा शुक्ल होने पर भी वे हैं तो गोजातीय ही, अतः सजातीय हैं। इसी प्रकार गुण भेद होने पर भी जीव तथा ब्रह्म चेतन होने से सजातीय हैं, आत्म-जातीय हैं। अतः ब्रह्म में सजातीय का भेद रहना चाहिये। किन्तु जब ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या है, वास्तव में नहीं है, ब्रह्म में ही अध्यस्त है, तब उसमें सजातीय का भेद नहीं रह सकता। इसी प्रकार विजातीय का अर्थ है—विभिन्न जातीय जैसे पशु और मनुष्य परस्पर विजातीय है, ऐसे ही यह जड़ जगत् भी चेतन ब्रह्म का विजातीय है। अतः इस प्रकार ब्रह्म विजातीय भेद युक्त होना चाहिये, किन्तु जब ब्रह्म से भिन्न सब मिथ्या है, ब्रह्म में ही अध्यस्त है, तब ब्रह्म से भिन्न जातीय जड़ की सत्ता ही न रहने से ब्रह्म विजातीय भेद शून्य भी हुआ। इस प्रकार ब्रह्म सजातीय तथा विजातीय भेदशून्य हुआ। स्वगतभेद का अर्थ है अपने में भेद। यह भेद सावयव पदार्थों में ही रह सकता है, निरवयवों में नहीं और ब्रह्म निरवयव है अतः वह स्वगतभेदशून्य भी है। इस प्रकार ब्रह्म सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य हुआ। इन दोनों दार्शनिकों के एतद्विषयक दृष्टिकोण का अध्ययन अत्यन्त मनोरञ्जक है।

अद्वैत शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है।

अद्वैताय नमः

अन्न, अन्नाद, अत्ता

१—श्री महाराज ने इन शब्दों को 'अद भक्षणे' तथा 'अन प्राणने' इन दोनों धातुओं से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) अद भक्षणे इससे अन्न शब्द सिद्ध होता है 'अत्ति भक्षयति चराचरं जगत् तदन्नम्' जो चराचर जगत् का भक्षक है और काल को भी खाके पचा लेता है उसका नाम अन्न है। इसमें प्रमाण है 'अद्यते-ऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' (तै. उ. २. २) यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' 'अहमन्नादो-ऽहमन्नादोऽहमन्नादः' (तै. उ. १-१०) यह भी उसी उपनिषत् में है। अन्नमत्तीत्यन्नादः अन्न शब्द से चराचर जगत्, (उस) का जो ग्राहक उसका नाम अन्नाद है। यह वचन परमेश्वर ही का है।...इस विषय में व्यास जी का सूत्र प्रमाण है 'अत्ता चराचरग्रहणात्' (ब्र. सू. १.२.९) अत्ता नाम खाने वाले का है उसी का नाम अन्नाद है। चराचर नाम जड़ और चेतन जगत् उसके ग्रहण करने से परमेश्वर का नाम अत्ता अन्न और अन्नाद है। जैसे कि गूलर के फल में कृमि उत्पन्न हो के उसी में रहते हैं और उसी में नाश हो जाते हैं। इससे परमेश्वर का नाम अत्ता, अन्न और अन्नाद है। (स. प्र. प्र. सं० पृ. १२)

(ख) 'अद भक्षणे' इस धातु से अन्न शब्द सिद्ध होता है 'अद्यते-ऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' अह-मन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' 'अत्ता चराचरग्रहणात्' जो सबको भीतर रखने सबको ग्रहण करने वाला है इससे ईश्वर के अन्न, अत्ता और अन्नाद नाम। (स. प्र. पृ. ८ स्तं. १)

(ग) उणादिसूत्र कृवृजृसिद्रुपन्यनि' (३।१०) की व्याख्या करते हुए लिखा है 'अनिति जीवयतीत्यन्नम् 'ओदनादिकम्'।

यह निर्वचन आधिभौतिक दृष्टि से है। किन्तु भगवान् पर भी यह भली भांति संगत हो सकता है। उपनिषत् कहती है। 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० उ० २-७) अर्थात् यदि भगवान् न हों तो संसार में कौन जीवित रह सकता है। इसलिये 'अनिति जीवयतीत्यन्नं ब्रह्म'।

२—निरुक्तकार अद भक्षणे के अतिरिक्त आङ् पूर्वक नम से भी अन्न की रचना मानते हैं। वे लिखते हैं—'अन्नं कस्मादानतं भूतेभ्यः अत्तेर्वा' (निरु० ३-९)। यह निर्वचन भौतिक अन्न[1] की दृष्टि से हैं, किन्तु

---

१. कोषकारों ने सस्य धान्य और अन्न शब्दों के प्रयोग क्षेत्र पृथक् पृथक् दर्शाए हैं। उनका लेख है—

आनमन्ति भूतान्यस्मै इत्यन्नम्' इस प्रकार निर्वचन करने पर इसी प्रकृति से भगवत्परक अन्न शब्द भी बन सकता है।

अन्न शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में अन्न शब्द भगवान् का वाचक है

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

(साम० पू० ६-१-९)

अहम् = मैं **देवेभ्यः** = दिव्य गुण युक्त सूर्यचन्द्रादि तथा वेद विस्तार करने वाले अग्नि, वायु, अङ्गिरा आदि से भी **प्रथमजाः** = पूर्वोत्पन्न **अस्मि** = हूं, अर्थात् इस सम्पूर्ण सृष्टि से पूर्व मैं ही विद्यमान था। श्रुति कहती है—**'अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन** (ऋक् १०-१२९-६) अर्थात् देवता भी तो इस सर्ग के पश्चात् ही हुए, पूर्व तो थे ही नहीं। **ऋतस्य अमृतस्य पूर्वमपि अहमेवास्मि** = ऋत तथा अमृत आकर्षण और विकर्षण शक्तियों से भी मैं पूर्व हूँ, क्योंकि जगत् की स्थिति करने वाली ये शक्तियां भी तो भगवान् ने ही बनाई हैं। **अहम् अन्नम्** = मैं इस सम्पूर्ण जगत् को जीवित रखने से अन्न कहाता हूँ। अतएव **यो मा ददाति स इदेवम् आवत्** = जो मुझे देता है वह इस जगत् की रक्षा करता है। अर्थात् यागादि में मेरे उद्देश्य से हविः प्रक्षेप करना वायु शुद्धि रोगनाशादि द्वारा संसार की रक्षा है। **अन्नम् अदन्तम्** (अपि) **अहम् अद्मि** = क्योंकि प्रलय में मैं इस जगत् का नाश कर भक्षण करता हूँ अतः यह जगत् अन्न है, इस अन्न को खाने वाले काल को भी मैं खाता हूँ अर्थात् मैं काल का भी काल हूँ। उपनिषत् कहती है **'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः'** (श्वेता० ६२)। गीता में भी कहा है—'अहमेवाक्षयः कालः' (गीता १०,३३)।

अन्नाद शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में अन्नाद शब्द ईश्वर का वाचक है—

सस्यं क्षेत्र गतं प्राहुः सतुषं धान्यमुच्यते ।
आमं वितुषमित्युक्तं स्विन्नमन्नमुदाहृतम् ॥

इससे स्पष्ट है कि स्विन्न = नरम हुए वा पके हुए का नाम अन्न है। वही मनुष्यादि के लिए नत है अर्थात् उपनत है, भक्षण योग्य है। सस्दा०।

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः। अथ. १३.३.७

यः अन्नादः = जो इस सम्पूर्ण चराचर रूप अन्न का अन्त में संहार करने से अन्नाद कहाते हैं, वे ही **अन्नपतिर्बभूव** = सम्पूर्ण जगत् का पालन करने से अन्नपति भी हैं, **उत यः** = और जो **ब्रह्मणस्पतिः** = ब्रह्म अर्थात् वेदज्ञान के स्वामी हैं **यः भूतः भविष्यद् भुवनस्य पतिः** = और जो भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान के स्वामी हैं, उन्ही की उपासना पूजा परिचर्या करना योग्य है।

अत्ता शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—अत्ता शब्द का भगवदर्थ में साक्षात् प्रयोग तो नहीं मिलता, पर यहां उस का भाव उपलब्ध होता है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ कठ. १.२.२४।

ब्रह्म च क्षत्रं च उभे = ब्रह्म तथा क्षत्र ये दोनों **यस्य ओदनः** = जिसके ओदन स्थानीय हैं **मृत्युः** = काल **यस्य उपसेचनम्** = जिसके लिये व्यञ्जन दाल शाकादि स्थानीय है, **यत्र इत्था सः** = वह जो है जैसा है **कः वेद** = कौन जानता है। अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत् का लय करने वाले भगवान् 'अत्ता' है उनको इदमित्थं रूपेण कौन जानता है।

अन्नाय नमः **अन्नादाय नमः** **अत्त्रे नमः**

कूटस्थ

इस शब्द के विषय में श्री महाराज लिखते हैं—

(क) कूटे तिष्ठतीति कूटस्थः' जिसमें सब व्यवहार होय आप सब व्यवहारों में व्याप्त होय और सब व्यवहार का आधार भी होय परन्तु जिसके स्वरूप में व्यवहार का लेशमात्र भी विकार न होने से परमेश्वर का नाम कूटस्थ है। (स. प्र. प्र. स. पृ. १८)

(ख) यः कूटेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः' जो सब व्यवहारों में व्याप्त और सब व्यवहारों का आधार होके भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता इससे परमेश्वर का नाम कूटस्थ है। (स. प्र. पृ. ११ स्तं. १)

आशय यह कि अविकारी होने से भगवान् कूटस्थ कहाते हैं।

२—गीता के 'कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते' (१५. १६) का व्याख्यान करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं 'अर्थात् इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहने वाले प्रकृतिरूप अव्यक्त तत्त्व को अक्षर कहते हैं।' तब निर्वचन होगा 'कूटे जगन्मूले तिष्ठतीति कूटस्थः' अर्थात् जगत् के मूल में विद्यमान होने से भगवान् कूटस्थ कहाते हैं।

३—कोश का कथन है 'एकरूपतया कालव्यापकत्वं कूटत्वम्–तस्मिन् तिष्ठतीति कूटस्थः' कूट के समान जो निर्विकार है, इस लिये भगवान् कूटस्थ कहाते हैं।

कूटस्थ शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है।

कूटस्थाय नमः

स्वयम्भूः

महाराज लिखते हैं—

१—भू सत्तायाम्' स्वयं पूर्वक इस धातु से स्वयम्भू शब्द सिद्ध होता है। यः स्वयं भवति स स्वयम्भूरीश्वरः' जो आप से आप ही है किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है इससे उस परमात्मा का नाम स्वयम्भू है। (स. प्र. पृ. १२ स्तं. २)।

आशय यह कि स्वयं विद्यमान है, उनकी विद्यमानता में काल कर्मादि कारण नहीं हैं, अतएव वे नित्य हैं।

२—निघण्टु के व्याख्याता देवराज यज्वा इस शब्द पर लिखते हैं—'स्वयं भवति न केनचित् सृज्यते' (निघण्टु टी० १।३।११) अर्थात् जिन्हें कोई उत्पन्न नहीं करता वे स्वयं ही हैं, इस लिये भगवान् स्वयम्भू हैं।

३—स्वयं भावयति = ज्ञापयति योग्यपुरुषेभ्य इति स्वयम्भूः। अपने आप को स्वयं ज्ञात कराने से भगवान् स्वयम्भू कहाते हैं। इस निर्वचन का मूल है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।

मुण्डक ३.२.३

स्वयम्भू शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में स्वयम्भू शब्द भगवान् का वाचक है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(अथर्व १०-८-४४)

धीरः=बुद्धि को प्रेरित करने वाले, **स्वयम्भूः**=स्वयं ही स्थित अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के कारण तथा स्वयं अकारण होकर स्वयम्भू कहाने वाले भगवान् **अमृतः**=अमृत स्वरूप अमरणधर्मा नित्य सदातन हैं तथा **रसेन तृप्तः**=अपने आनन्द स्वरूप में परिपूर्ण **कुतश्चन न ऊनः**=किसी से कम नहीं, किसी विषय में कम नहीं, किसी ओर से कम नहीं, अत एव **अकामः**=सर्वविधकामना-शून्य हैं। **अजरं धीरं युवानम्**=उस नित्य, निरवद्य, जगत् के धारक तथा प्रेरक, सबमें और सबसे पृथक् **तम् आत्मानम्**=उस भगवान् को **विदित्वा एव**=जानकर ही **मृत्योः न बिभाय**= मृत्यु से नहीं डरता अर्थात् मुक्त होकर मृत्यु भय से छूट जाता है। श्रुति तथा उपनिषत् कहती हैं—**'धियो यो नः प्रचोदयात्'** (यजुः ३६-३) **'सुभूः स्वयम्भूः प्रथमः'** (यजुः २४-६३) **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन'** (तै० उ० २-४) **'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (यजुः ३१-१८)

स्वयम्भुवे नमः

आत्मा

१—इस शब्द को महाराज ने 'अत सातत्यगमने' धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) अत सातत्यगमने धातु है इससे आत्मा शब्द सिद्ध हुआ। 'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा' जो सब जगत् में व्यापक होय उसका नाम आत्मा है। (स. प्र. प्र. सं. पृ० १०)

(ख) अत सातत्यगमने इस धातु से आत्मा शब्द सिद्ध होता है 'योऽतति व्याप्नोति स आत्मा' जो सब जीवादि जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है। (स. प्र. पृ. ७ स्तं. १)

(ग) उणादिकोष में **'सातिभ्यां मनिन्मनिणौ'** (४।१५३) की व्याख्या में **'अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति, व्याप्नोति वा स आत्मा'**

यह निर्वचन जीव तथा ईश्वर दोनों की दृष्टि से किया गया है। जीव कर्म-फल पाने से आत्मा है और ईश्वर व्यापक होने से। ध्यान रहे कि महाराज जीव को विभु नहीं मानते हैं।

२—आचार्य यास्क आत्मा शब्द को आप्लृ धातु से भी बनाते हैं। वे लिखते हैं **'आत्मा अततेर्वा आप्नोतेर्वा अपि वा आप्त इव स्यात् यावत् व्याप्तिभूतः'** (निरु० ३-१५)। इस अवस्था में निर्वचन होंगे—

(क) आप्नोति सर्वं व्याप्नोतीत्यात्मा।

(ख) सर्वत्र आप्त इव प्राप्त इवेत्यात्मा।

द्वितीय निर्वचन में 'इव' न उपमा में है, न उत्प्रेक्षा में। अपितु 'एव' (ही) अर्थ में हैं। अर्थात् सर्वत्र व्याप्त ही है, इसलिये आत्मा है।

३—निरुक्त-व्याख्याकार स्कन्द इस शब्द के मूल में—आङ्पूर्वक तनु विस्तारे तथा आङ्पूर्वक डुदाञ् दाने और आङ्पूर्वक अद भक्षणे धातु भी मानते हैं। वे लिखते हैं **'आतनोतेराददातेरात्तेराप्नोतेर्वा आत्मा'**[१] इस अवस्था में निर्वचनों के स्वरूप होंगे—

(क) आतननात् आत्मा।

(ख) जीवेनान्तःकरणेनात्त इत्यात्मा।

(ग) आसमन्तात् अत्तीत्यात्मा।

सभी स्थलों में आत्मा का अर्थ ईश्वर है। जीव शब्द का अर्थ अन्तःकरण भी होता है, इस विषय में—

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते जन्तुः सुखं दुःखं च जन्मसु॥

यह मनु (१२-१३) वचन प्रमाण है।

४—**जीवेनान्तःकरणेनादीयते ध्यायत इत्यात्मा** अर्थात् अन्तःकरण द्वारा ध्यान किये जाने से भगवान् आत्मा कहाते हैं।

५—वेदान्त सिद्धान्त में आत्मा के निर्वचन चार भिन्न भिन्न धातुओं से किये गये हैं—

---

१. यह स्कन्द का भावानुकरण है। द्र० नि० टी० स्क० भा० १, पृष्ठ १६८। सम्पा०।

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मादात्मेति गीयते ॥

अत्र निर्वचनों के स्वरूप होंगे—

(क) आप्नोति विषयान् इत्यात्मा ।

(ख) आदत्ते विषयान् इत्यात्मा ।

(ग) अत्ति विषयान् इत्यात्मा ।

(घ) अतति सातत्येन गतो भवतीत्यात्मा ।

ये चारों निर्वचन जीवात्मा की दृष्टि से किये गये हैं। ध्यान रहे कि दार्शनिक क्षेत्र में कुछ वैष्णव सम्प्रदाय, जैन तथा बौद्धों को छोड़कर शेष सब आत्मा को विभु मानते हैं।

ये चारों निर्वचन धातुओं का कर्म परिवर्तन कर देने मात्र से भगवान् में भी सुसंगत हो जाते हैं—

(क) आप्नोति = व्याप्नोति जगद् इत्यात्मा परमेश्वरः ।

(ख) आदत्ते प्रलयकाले जगद् इत्यात्मा ।

(ग) अत्ति विनाशकाले जगद् इत्यात्मा ।

(घ) अतति सन्ततो भवतीत्यात्मा ।

इनमें से पहले और चौथे निर्वचन से भगवान् की व्यापकता, दूसरे और तीसरे से उनका संहार-कर्तृत्व ज्ञापित होता है ।

६—**'अतति सातत्येन गतो भवति सन्ततो भवतीति यावत् इत्यात्मा परमेश्वरः'** यह भी एक निर्वचन है । जो भगवान् की नित्यता का द्योतक है । नैरन्तर्येण प्राप्ति काल तथा देश उभयकृत हो सकती है । इनमें से प्रथम प्राप्ति से नित्यता और दूसरी से व्यापकता आती है ।

आत्म-शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में आत्मा शब्द भगवान् का वाचक है—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥

(ऋक्० १०-१६८-४)

देवानाम् = ब्रह्मादि देवों का तथा सूर्य चन्द्रादि दीप्तिमान् पिण्डों का **भुवनस्य** = लोकलोकान्तरों का **गर्भः** = ग्रहण करनेवाला **आत्मा** = सर्वव्यापक, कर्मफलप्रदाता तथा प्रलयकाल में सर्व आदाता होने से आत्मा नाम से प्रसिद्ध भगवान् **यथावशं** स्वस्वकर्मानुसार उचित समय पर इन देवों और भुवनों को **चरति** भक्षण कर लेते हैं। **अस्य घोषा इत् शृण्विरे** = इनका नाम ही सुनाई देता है **रूपं न** = इनका रूप दृष्टिगोचर नहीं होता **तस्मै वाताय** = उस व्यापक भगवान् के लिये **हविषा विधेम** = हविः द्वारा परिचर्या किया करें।

आशय यह कि भगवान् सम्पूर्ण जगत् का लय तथा उत्पादन करते हैं सब में परिपूर्ण हैं। इनका नाम तो सब ही सुनते हैं किन्तु दर्शन विरले ही करते हैं। हम सब यथाविधि उनकी परिचर्या किया करें।

उपनिषदों में अनेक स्थलों पर आत्मा शब्द भगवान् का वाचक आता है—

(क) तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। तै. उ. २-१

(ख) आत्मन एवेदं सर्वम्। छा. ७-२६-१

(ग) यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः॥
मु० २-२-५

लौकिक साहित्य में भी आत्मा पद भगवान् का वाचक है, ऐसा भी पता चलता है। एक श्लोक है—

चराचरजगत्स्फारस्फुरतामात्रधर्मिणे ।
दुर्विज्ञेयरहस्याय मुक्तैरप्यात्मने नमः॥

आत्मने नमः

कवि

१—श्रीमहाराज ने इस शब्द को कु धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) **कु शब्दे** इस धातु से कवि शब्द सिद्ध होता है 'यः कौति शब्दयति सर्वा विद्याः स कविरीश्वरः' जो वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा और वेत्ता है इसलिये परमेश्वर का नाम कवि है। (स० प्र० पृ० १३ स्तं.१)

(ग) उणादिसूत्र 'अच इः' (४।११४) की व्याख्या करते हुए फिर लिखा है—'कौति शब्दयत्युपदिशति स कविः मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा'।

आशय यह कि सर्व विद्याओं के उपदेष्टा होने से भगवान् कवि कहाते हैं।

२—आचार्य यास्क ने भी प्रसंगवश कवि शब्द का निर्वचन किया है। वे लिखते हैं—'कविः मेधावी क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा।'

आशय यह कि कवि मेधावी को कहते हैं, क्योंकि वह क्रान्तदर्शी होता अतः कु धातु से कवि बनेगा।

३—इस पर व्याख्याकार दुर्ग लिखते हैं—'कवतेर्धातोः गत्यर्थस्य कविः कवति गच्छत्यसौ नित्यम्'। यास्क ने सविता देवता वाला मन्त्र उद्धृत करके उसमें आये कवि शब्द का व्याख्यान किया है और सविता का अर्थ सूर्य माना है। यास्क का प्रथम निर्वचन आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दोनों दृष्टियों से संगत हो सकता है। दुर्ग कु धातु को गत्यर्थक मानते हैं।

४—निरुक्त के दूसरे व्याख्याकार भी—'क्रमतेः कवतेर्वा गतिकर्मणः इति रूपम्'। निर्वचन आपने इस रूप में दिये हैं—

(क) क्रान्तं दूरगतं दर्शनं प्रकाशरूपं विज्ञानमस्य।

(ख) कविर्गन्ता गच्छत्यसौ नित्यम्।

(ग) अवगन्ता वा सर्वस्य ज्ञाता।

इन में से प्रथम तथा तृतीय निर्वचनों का आशय है जिनका प्रकाश रूप विज्ञान सर्वत्र विस्तृत है, अथवा जो सबके ज्ञाता हैं इस प्रकार भगवान् भी कवि हैं।

५—विष्णुसहस्रनाम के—

भगवद्गुणदर्पण भाष्य में—

(क) 'कुशब्दे दर्शनकर्मणोऽस्मात् इन्'[1] ऐसा लिखा है। यहाँ कु धातु को दर्शनार्थक माना है।

(ख) श्री वरदाचार्य इसी के निर्वचन में लिखते हैं—'कु शब्दे धातूनामनेकार्थत्वात् दर्शनकर्मेहायम्'। आशय यह कि कु धातु से दर्शन अर्थ

१. 'कवि' शब्द के अन्तोदात्त होने से 'इन्' प्रत्यय मानना का चिन्त्य है।

में कवि बनता है। सर्वद्रष्टा होने से भगवान् कवि हैं। है भी ठीक 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३-७-२३)।

६—एक निर्वचन यह भी है 'क्रान्तं वेत्तीति कविः' अर्थात् अतीत अनागत के ज्ञाता होने से भगवान् कवि हैं। 'सपर्यगाच्छुक्रमकाय' (यजुः ४०-८) के भाष्यकर्ताओं ने यही निर्वचन किया है।

कवि शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में कवि शब्द भगवान् का वाचक है—

श्रुत्कर्णाय कवये वेद्याय वचोभिर्वाकैरुपयामि रातिम्।
यतो भयमभयं तन्नोऽस्त्ववव देवानां यज हेडो अग्ने॥

अथर्व १९-३-४

श्रुत्कर्णाय = परम प्रसिद्ध, **वेद्याय** = जानने योग्य **कवये** = वेदोपदेष्टा होने से, सर्वज्ञ होने से तथा अतीत अनागत के ज्ञाता होने से 'कवि' कहाने वाले भगवान् के लिए **वाकैः** = **वचोभिः रातिम् उपयामि** = सुन्दर सूक्तियों द्वारा स्तुति को उपस्थित करता हूँ। अर्थात् सुन्दर सूक्तियों द्वारा परम प्रसिद्ध परमज्ञेय तथा सर्वज्ञ भगवान् की सेवा में उपस्थित होता हूँ। उनकी कृपा से **यतः भयम्** = जहां जहां से भय की आशङ्का हो **तन्नः अभयम् अस्तु** = वहां से हमें अभय प्राप्ति हो। हे **अग्ने** = ज्ञानस्वरूप क्रान्तिदर्शी भगवन् **देवानाम्** विद्वानों के **हेडः** = अनादर अथवा अप्रतिष्ठा को **अवयज** = नाश कीजिये[1] अथवा दूर कीजिये।

---

१. वैदिक मर्यादा में और भारतीय संस्कृति में विद्वान् की स्थिति सर्वोपरि मानी गई है। अतएव वेद में अनेक स्थानों पर देवों = विद्वानों के अनादर करने वालों को नष्ट करने का आदेश दिया है। इतना ही नहीं, ब्राह्मण की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने वाला राष्ट्र वा समाज वा जाति वा व्यक्ति कोई भी जीवित नहीं रह सकता—'न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन' अथर्व ५।१९।१०॥ आर्यसमाज के पतन का यह एक प्रधान कारण है। यहाँ तो साधारण विद्वान् की बात तो दूर रही, अपने प्रवर्तक ऋषि दयानन्द की गौ = वाणी भी ताले कुंजी में छिपाकर सुरक्षित रखी जा रही है, न वह प्रकाशित ही को जाती है और न कोई उसका दर्शन ही कर सकता है। दयानन्द के जो धेनुरूपी ग्रन्थ, ग्रन्थांश वा

आशय यह कि आप सर्वप्रसिद्ध सर्वज्ञेय हैं। हम आप की स्तुति करते हैं। आपकी कृपा से हम सब ओर से निर्भय हों और आप हमारे विद्वानों की प्रतिष्ठा के हेतु बनिये अर्थात् आपके शुभाशीर्वाद से हमारे विद्वान् प्रतिष्ठित एवं पूजित हों।

कवये नमः

सविता

१—श्री महाराज ने इस शब्द को षुञ् अभिषवे तथा षूङ् प्राणिगर्भविमोचने इन दो धातुओं से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) षुञ् अभिषवे षूङ् प्राणिगर्भविमोचने इन दो धातुओं से सविता शब्द सिद्ध होता है। 'अभिषवः=उत्पादनम्, प्राणिगर्भविमोचनं च। सुनोति सूते वा उत्पादयति चराचरं जगत् स सविता' जो सब जगत् की उत्पत्ति करै उसका नाम सविता है।

(स० प्र० प्र० सं० पृ० १०)

(ख) षुञ् अभिषवे षूङ् प्राणिगर्भविमोचने इन दो धातुओं से सविता शब्द सिद्ध होता है। 'अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्, यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः' जो सब जगत् की उत्पत्ति करता है इसलिये परमेश्वर का नाम सविता है। (स० प्र० पृ० ७ स्तं० २)।

'अभिषव' शब्द का याज्ञिककाल में प्रसिद्ध अर्थ था सोम रसका निष्पादन, अर्थात् सोमवल्ली को कूटकर निचोड़कर उसका रस निकालना। लौकिक अर्थ है भभके से अर्क खैंचना, विशेषकर सुरा। किन्तु ये दोनों हैं तो वस्तु के रूपान्तर के उत्पादन ही। अतएव महाराज ने सामान्यतः दोनों का अर्थ उत्पत्ति किया है। आशय यह कि जगदुत्पादक हाने से भगवान् सविता कहाते हैं।

२—निरुक्तकार ने भी सविता का निर्वचन किया है। आप लिखते हैं 'सविता सर्वस्य प्रसविता' (निरु० १०-३१)। आपने षू प्रेरणे से सविता

पत्रे आदि अभी प्रकाश में नहीं आए, उनके नाम आदि का निर्देश हमने 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ में पृष्ठ १९०-१९५ तक किया है।

बनाया है। सम्पूर्ण जगत् को स्व-स्व कार्यों में प्रेरक होने सूर्य का नाम सविता है। निरुक्त का अर्थ सूर्य से सम्बद्ध है। भगवान् भी जगत् को उत्पन्न करके स्व-स्व कार्यों में प्रेरित करते ही हैं।

३—विष्णुसहस्रनाम के भाष्यकारों ने इस शब्द का निर्वचन **'सूते=प्रसूते इति सविता'** किया है।

सविता शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में सविता शब्द भगवान् का वाचक है—

सविता पश्चात्तात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात् सविताधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः॥

ऋक्० १०–३६–१४

सविता=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने के कारण सविता कहाने वाले भगवान् **पश्चात्तात् पुरस्तात् उत्तरात् अधरात्तात्**=आगे-पीछे, ऊपर-नीचे अर्थात् सब ओर से **नः सुवतु**=हमारे रक्षक हों। तथा **सविता**=सर्व जगत् के प्रेरक भगवान् **नः**=हमको **सर्वतातिम्**=सम्पूर्ण कल्याणों को **सुवतु**=प्रदान करें। **सविता**=वे ही सविता **नः**=हमको **दीर्घम् आयुः**=दीर्घायु **रासताम्**=प्रदान करें।

आशय यह कि सम्पूर्ण जगत् के रक्षक एवं पालक भगवान् सब ओर से हमारी रक्षा करें तथा हमें दीर्घायु प्रदान करें, जिससे भगवान् का भजन करते हुए हम पुण्य लाभ कर सकें।

सवित्रे नमः

इत्यवशिष्टनामाख्ये पञ्चमे प्रकरणे
उपनिषदन्तर्गतब्रह्मवाचक-
शब्दव्याख्यानरूपः
तृतीयो वर्गः

वर्ग ३ — **नाम संख्या १९**
पूर्वागत ११
पूर्ण संख्या ३०

चतुर्थ वर्ग

यह चतुर्थ वर्ग गुणवाचक शब्दों का है। गुणवाचक शब्दों से आशय उन शब्दों से है, जो किसी दूसरे संज्ञावाची शब्द के साथ लगकर उसके किसी विशेष गुण को प्रकट करते हैं। लोक में इन शब्दों का व्यवहार भी इसी प्रकार होता है। अन्य लौकिक संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त होने पर तो ये शब्द भेदक होते हैं, क्योंकि वे गुण मनुष्य में अपनी चरम सीमा में नहीं रह सकते। भगवान् में ये गुण अपनी चरम सीमा में रहते हैं, वहां ये भेदक नहीं, अपितु स्वरूप प्रतिपादक हैं। इसलिये महाराज ने उनको भगवान् का वाचक माना है। अर्थात् जीवों के सम्बन्ध में वे गुणवाचक और भगवान् के सम्बन्ध में संज्ञावाचक हैं। ये शब्द दो प्रकार के हैं—

१. विशेषण वाचक।

२. विशेषण वाचक, किन्तु संज्ञारूप में प्रयुक्त।

कुछ शब्द गुणवाचक होने से हैं तो विशेषण ही, किन्तु लोक में उन शब्दों का प्रयोग जीवों के लिये नहीं के समान होता है। वे शब्द केवल परमात्मा के लिये ही प्रयुक्त होते हैं। उनका उच्चारण अथवा श्रवण करने पर केवल परमात्मा का ही भान होता है, उन शब्दों द्वारा प्रतिपाद्य गुणों का नहीं; अतः वे **संज्ञारूप में प्रयुक्त गुणवाचक शब्द** माने गये हैं।

इनमें से विशेषणवाचक शब्द जिनका व्याख्यान प्रथम किया जायगा, संख्या में १३ हैं, तथा निम्न हैं—

निराकार निरञ्जन अनादि दयालु
निर्गुण सगुण प्रिय आप्त
अचिन्त्य न्यायकारी सर्वशक्तिमान्
अन्तर्यामी सर्वजगत्कर्ता

निराकार

१—श्री महाराजने इस शब्द को डुकृञ् करणे[1] से बनाया है। आप लिखते हैं—

१. यहाँ हम प्रसङ्गवश स्वामी दयानन्द सरस्वती के एक विशिष्ट वचन को ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। उसकी विवेचना से स्पष्ट हो जाएगा स्वामी दयानन्द का व्याकरणविषयक पाण्डित्य अद्भुत था

(क) डुकृञ् करणे इस धातु से निराकार शब्द सिद्ध होता है 'निर्गत आकारो यस्मात् स निराकारः' जिसका आकार कोई भी नहीं इससे परमेश्वर का नाम निराकार है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. १७)

अपूर्व था। आजकल के वैयाकरणंमन्य उनके सन्मुख पासंग में भी नहीं बैठ सकते। दयानन्द का वह वचन है—

'डुकृञ् करण इत्यस्य भ्वादिगणान्तर्गतपाठात् शब्विकरणोऽत्र गृह्यते, तनादिभिः सहपाठाद् उविकरणोऽपि।' यजुर्वेदभाष्य ३।५८॥

अर्थात्—'डुकृञ् करणे' इस धातु का भ्वादिगण के मध्य पाठ होने से शब्विकरण वाला माना जाता है और तनादियों के साथ पाठ होने से उविकरण वाला भी। अर्थात् 'करति' और 'करोति' दोनों प्रयोग साधु हैं।

आजकल पाणिनीय धातुपाठ का जो स्वरूप पठन पाठन में प्रचलित है उसके अनुसार 'कृञ्' का भ्वादि में पाठ नहीं है, तनादि में है। स्वामी दयानन्द ने इससे सर्वथा उलटी स्थिति बताई है। उनके मतानुसार 'कृञ्' का भ्वादि में पाठ है, तनादि में नहीं। 'करोति' में उविकरण तो 'तनादिकृञ्भ्य उः' (३।१।७२) सूत्र में तनादि के साथ कृञ् का पाठ होने से होता है, न कि तनादिगण में पाठ होने से।

अब हम दयानन्द के पाठ की विवेचना करते हैं। साधारणतया देखने से तो यही विदित होता है कि दयानन्द का लेख व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध है, परन्तु अत्यन्त गहराई से इसकी मीमांसा करने पर विदित होता है कि दयानन्द का लेख ही सत्य है। सो कैसे? यह निम्न प्रकार से प्रमाणित होता है—

(क) भ्वादि में कृञ् का पाठ—आजकल जो पाणिनीय धातुपाठ का पाठ उपलब्ध होता है वह सायणाचार्य द्वारा निर्धारित पाठ है। सायणाचार्य ने अपनी धातुवृत्ति में इस पाठ का विस्तार से निर्धारण किया है। उसने अनेक धातुओं को, जो पूर्वाचार्यों द्वारा विभिन्न गणों में पठित थीं, निकाल दिया, अन्य अपठितों का पाठ कर दिया (इसके विस्तार के लिए देखिए हमारा सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग २, पृष्ठ ५९–६२)। सायण से पहले 'कृञ्' धातु भ्वादि में पठित थी। सायण ने उसे भ्वादि में से हटाया, यह उसने धातुवृत्ति पृ० १६३ तथा ऋग्वेदभाष्य १।८२।१ के व्याख्यान में स्पष्ट लिखा है—'अस्य महता

(ख) निर् और आङ् पूर्वक डुकृञ् करणे धातु से निराकार शब्द सिद्ध होता है 'निर्गत आकारात् स निराकारः' जिसका आकार कोई

प्रपञ्चेन भ्वादित्वं निराकृतम्।' सायण से पूर्ववर्ती देव, क्षीरस्वामी, पाल्यकीर्ति, हेमचन्द्र, दशपादी-उणादिवृत्तिकार सभी इसका पाठ भ्वादि में स्वीकार करते हैं। अतः स्वामी दयानन्द का यह लिखना कि 'कृञ् का पाठ भ्वादि में है' सर्वथा युक्त है। अब रह गया 'तनादि में नहीं है, उविकरण तनादि के साहचर्य से होता है।' यह लेख भी सर्वथा सत्य है। यदि कृञ् का पाठ तनादि में पाणिनि ने माना होता तो 'तनादि-कृञ्भ्य उः' (३।१।७९) सूत्र में 'कृञ्' का पृथक् पाठ क्यों करते? तनादि गण में पाठ होने से उविकरण हो ही जाता। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस सूत्र के भाष्य में 'कृञ्' को पृथक् क्यों पढ़ा, इस पर पर्याप्त विचार किया, परन्तु वे इसका कोई कारण न बता सके। प्रतीत होता है पतञ्जलि से पहले ही कृञ् का तनादि में प्रक्षेप हो चुका था, इसीलिए वे कारण बताने में असमर्थ रहे। यह तो दयानन्द की ही सूझ है अथवा उनके गुरु विरजानन्द की, जिनके द्वारा धातुपाठ के सहस्रों वर्षों से भ्रष्ट हुए पाठ की वास्तविक स्थिति की ओर संकेत किया गया। श्री स्वामी विरजानन्द के शिष्य हरिवंश के हाथ का लिखा धातुपाठ का एक हस्तलेख 'विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर' में सुरक्षित है, (इसकी प्रतिलिपि हमारे पास भी है) उसमें कृञ् का तनादि गण में पाठ नहीं है।

ऐसे महावैयाकरण दण्डी श्री विरजानन्द के शिष्य और स्वयं परम-वैयाकरण दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ ढूँढ़ना सूर्य को दीपक लेकर ढूँढने के समान है (लिपिकर, मुद्राक्षर-संयोजक तथा संशोधक की अनवधानता वा प्रमाद से जो भूलें उनके ग्रन्थों में हैं, उन्हें भूलें ही मानना चाहिए, पर वे दयानन्द की नहीं है)। जो महानुभाव इस विषय में अधिक जानना चाहें उन्हें हमारे द्वारा लिखित 'ऋषि दयानन्द की पदप्रयोग शैली' तथा टंकारा पत्रिका वर्ष ४ के अंक ८ से प्रकाश्यमाण 'अबोधनिवारण का उत्तर' गम्भीरतापूर्वक अवलोकन करना चाहिए। 'अबोधनिवारण' पुस्तक पं० अम्बिकादत्त व्यास ने दयानन्द सरस्वतीकृत संस्कृतवाक्यप्रबोध की अशुद्धियाँ दर्शाने के लिए लिखी थी। इसका अभी तक किसी ने उत्तर नहीं दिया। सम्पा०

भी नहीं और न कभी शरीर धारण करता है इसलिये परमेश्वर का नाम निराकार है। (स. प्र. पृ. १० स्तं० २)

आशय बिलकुल स्पष्ट है, आकार शून्य होने से भगवान् निराकार कहाते हैं।

आशङ्का और समाधान

१. इन निर्वचनों से यह प्रतीत होता है कि पहले आकार था ईश्वर का, और फिर नहीं रहा।

२. 'निर्गत आकारात्' यह निर्वचन व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।

इनमें से प्रथम आशङ्का का उत्तर यह हैं—

(क) 'गम' धातु यहां प्राप्त्यर्थक है जैसा कि 'सपर्यगात् सर्वगतः' आदि शब्दों में है। इसी प्रकार 'नि' का अर्थ है 'अभाव', जैसा कि 'निर्मक्षिकम्' आदि प्रयोगों में है। अब 'निर्गत आकारो यस्मात्' ऐसा विग्रह करने पर अर्थ होगा 'अप्राप्त है आकार जिससे' तथा 'निर्गत आकारात्' ऐसा विग्रह करने पर अर्थ होगा 'आकार से अप्राप्त। इस अवस्था में उल्लिखित आशङ्का के लिये स्थान ही नहीं है।

(ख) महाराज की दृष्टि से निर्गतः का अर्थ है 'पृथग्भूतः' जैसा कि उन्होंने निरञ्जन शब्द पर लिखा है (द्र० पृ० १६२)। अर्थ होगा 'पृथग्भूत है आकार जिससे' अथवा 'आकार से पृथग्भूत' दोनों अवस्थाओं में उक्त आशङ्का निर्मूल है।

दूसरी आशङ्का कि 'यह निर्वचन व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है' कहने वाले इस ओर ध्यान नहीं देते कि

(क) वार्तिक में दोनों स्थलों पर 'आदि' पद लगा हुआ है अर्थात् वार्तिक का रूप है 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः'[1]। इसीलिये तत्त्वबोधनीकारने स्वयं इस आदि पद का ध्यान रखकर 'निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्' यह एक अन्य उदाहरण दिया है।

(ख) निर्गत आकारो यस्मात् सः' इस निर्वचन से 'अनेकमन्यपदार्थे' (अष्ट २।२।२४) सूत्र पर पढ़े 'प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्यः' इस वार्तिक द्वारा 'निराकार' शब्द बन ही सकता है।

---

१. महा० २।२।१८

(ग) निर्नास्ति आकारो यस्य स निराकरः। इस निर्वचन से भी आशय वही है आकार का न होना।

निराकार शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग मन्त्रादि में अन्वेषणीय है।

निराकाराय नमः

निरञ्जन

१—निरञ्जन शब्द के विषय में श्री महाराज ने लिखा है—

(क) अञ्जनं मायाऽविद्ययोर्नाम निर्गतमञ्जनं यस्मात् स निरञ्जनः' माया नाम छल और कपट का है क्योंकि यह पुरुष मायावी है इससे क्या जाना जाता है कि यह छली और कपटी है अविद्या अज्ञान का नाम है जिसको माया और अविद्या का लेश मात्र संबन्ध कभी न हुआ है और न होगा इससे परमेश्वर का नाम निरञ्जन है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १८)

(ख) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' इस धातु से अञ्जन शब्द और निर् उपसर्ग के योग से निरञ्जन शब्द सिद्ध होता है 'अञ्जनं व्यक्तिः म्रक्षणं कुकाम इन्द्रियैः प्राप्तिश्च इत्यस्मात् यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः' जो व्यक्ति अर्थात् आकृति म्लेच्छाचार दुष्ट कामना और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है इससे ईश्वर का नाम निरञ्जन है। (स० प्र० पृ० १० सं० २)

आशय यह कि माया का संबन्ध न होने से, आकृति रहित होने से, तथा किसी प्रकार भी अशुभ गुण युक्त न होने से भगवान् निरञ्जन कहाते हैं।

निरञ्जन का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर निरञ्जन शब्द परमेश्वर का वाचक है—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥ श्वेता० ६-१९

अहं मुमुक्षुः = मैं मोक्ष की इच्छा वाला—**निष्कलम्** = कला कहते हैं अवयव को, उनसे रहित अर्थात् निरवयव, **निष्क्रियम्** = क्रियारहित अर्थात् कूटस्थ **शान्तम्** = सर्वविकार रहित होने से अपरिणामी **निरवद्यम्** = अविद्यादि दोषों से रहित **अमृतस्य** = मोक्ष की प्राप्ति के लिये **सेतुम्** = पुल के सदृश।

क्योंकि संसार सागर से पार होने के उपाय तो वे ही हैं। **दग्धेन्धनमनलमिव** = निर्धूम अग्नि के सदृश **निरञ्जनम्** = अविद्यादि मल रहित होने से निरञ्जन नाम से पुकारे जाने वाले भगवान् की **शरणं प्रपद्ये** = शरण में आता हूँ, उन्हीं का आश्रय लेता हूँ। यहां 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इतना खण्ड पूर्व मन्त्र से आवृत्त होता है।

निरञ्जनाय नमः

अनादि

१—इस शब्द के विषय में श्री महाराज लिखते हैं—

(क) 'न विद्यते आदिः कारणं यस्य स अनादिः' जिसका कारण कोई भी नहीं और अपने तो सब जगत् का आदि कारण है इससे परमेश्वर का नाम अनादि है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० २२)।

(ख) डुदाञ् दाने आङ् पूर्वक इस धातु से आदि शब्द और नञ् पूर्वक अनादि शब्द सिद्ध होता है 'यस्मात्पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिरित्युच्यते[1], न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः' जिसके पूर्व कुछ नहीं और परे हो उसे कहते हैं आदि। जिसका आदि कारण कोई भी नहीं है इसलिये परमेश्वर का नाम अनादि है। (स० प्र० पृ० १० स्तं १)।

आशय यह कि जिसके आदि में या जिसका कारण कोई नहीं है इसलिये भगवान् अनादि कहाते हैं।

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) शांकरसम्प्रदायानुसरी भाष्य में इसका निर्वचन किया गया है— **'आदिः कारणम् अस्य न विद्यत इत्यनादिः सर्वकारणत्वात्'।** आशय यह कि इनका और कोई कारण नहीं है ये सबके कारण हैं, इसलिये भगवान् अनादि कहाते हैं।

इस निर्वचन तथा श्री महाराज के निर्वचन का भी मूल है—'स कारणं

१. द्र० महाभाष्य १।१।२१॥

कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वेता० ६।९) यह उपनिषद् वचन ।

(ख) भगवद्गुणदर्पण भाष्य में एक दूसरे प्रकार से निर्वचन किया गया है। वहां लिखा है—'तैरन्यैर्न स्वामित्वेनादीयते इति'। इसका आशय निरुक्ति में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

देवतान्तरभक्तैर्यः कुत्सितैश्चापि सर्वदा ।
नादीयते स्वामिमत्त्वमनादिः परिकीर्तितः ॥

आशय यह कि जो अन्य देवताओं के भक्त हैं अथवा जो नास्तिक हैं, वे उन्हें अपना स्वामी नहीं मानते, इसलिये भगवान् अनादि कहाते हैं।

अनादि शब्द का ईश्वर विषयक प्रयोग मृग्य है ।

अनादये नमः

दयालु

१—इस शब्द की रचना के विषय में श्री महाराज लिखते हैं—

(क) दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु इस धातु से दया शब्द सिद्ध होता है। दयतेऽनया सा दया' दान नाम अभय का देना, गति नाम यथावत् गुण दोषों का विज्ञान, रक्षण नाम है जगत् की रक्षा करना, हिंसा नाम दुष्ट कर्मकारियों को दण्ड का होना, आदान नाम सब जगत् के ऊपर वात्सल्य से कृपा करना, इसका नाम दया है 'दया विद्यते यस्य स दयालु; उस दया के नित्य विद्यमान होने से परमेश्वर का नाम दयालु है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. १९)

(ख) दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु इस धातु से दया शब्द सिद्ध होता है। 'दयते = ददाति, जानाति, गच्छति, हिनस्ति यया सा दया, बह्वीर्दया विद्यतेऽस्य स दयालुः परमेश्वरः' जो अभय का दाता, सत्यासत्य विद्याओं के जानने वाले, सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देने वाला है, इससे परमात्मा का नाम दयालु है। (स. प्र. पृ. ११ स्तं. २)।

इस प्रकार दय धातु के जितने अर्थ रहे वे सब भगवान् की दयालुता में आ गये ।

२—वैयाकरण 'दया शीलमस्येति दयालुः' ऐसा निर्वचन करते हैं।[१] दयालु पद का भगवान् के लिए प्रयोग अन्वेषणीय है।

दयालवे नमः

निर्गुण-सगुण

१—इन शब्दों के विषय में महाराज लिखते हैं—

(क) 'निर्गता जन्मादयः सत्त्वादयः गुणा यस्मात् स निर्गुणः परमेश्वरः' जगत् के जन्मादिक अविद्यादिक और सत्त्वादिगुणों से भिन्न है। अर्थात् जगत् के जितने गुण हैं वे सब लेशमात्र संबन्ध से भी नहीं रहते इससे परमेश्वर का नाम निर्गुण है।

'सच्चिदानन्दादिक गुणों से सदा सह वर्तमान होने से परमेश्वर का नाम सगुण है।

१, वैयाकरणों के मतानुसार 'स्पृहिगृहिपतिदयि' इस (अष्टाध्यायी ३।२।१५८) सूत्र से 'दय' धातु से आलुच् प्रत्यय होकर दयालु पद बनता है। इसी का निर्देश ग्रन्थकार ने उक्त रूप में किया है। यही भाव हेमचन्द्र ने 'दयत इत्येवं शीलो दयालुः' (अभिधान चिन्तामणि ३।३२ टीका में) द्वारा व्यक्त किया।

विशेष— ऋषि दयानन्द ने दोनों स्थानों पर 'दया विद्यतेऽस्य स दयालुः' व्युत्पत्ति दर्शाई है। पाणिनीय व्याकरण में 'दया' शब्द से मत्त्वर्थ में 'लुच्' वा 'आलुच्' प्रत्यय का विधान नहीं मिलता, पुनरपि 'हृदयादालुरन्यतरस्याम्' इस वार्तिक (५।२।१२२) में दया और कृपा शब्द का भी उपसंख्यान करना चाहिए। हेमचन्द्र ने 'कृपाहृदयादालुः' (७।२।४२) सूत्र में स्पष्ट ही दोनों पदों से आलुप्रत्यय का विधान किया है। चन्द्रगोमी ने तो 'निद्रातन्द्राश्रद्धादयाहृदयादालुच् (४।२।१५७) सूत्र से उन सभी से मत्त्वर्थ में आलुच् प्रत्यय का विधान किया है, जिनको पाणिनि कृदन्त मानता है। इस प्रकार ऋषि दयानन्द की व्युत्पत्ति व्याकरण-शास्त्र के नियमानुसार सर्वथा ठीक है। सम्पा०

कोई भी संसार में ऐसी वस्तु नहीं है, जो केवल निर्गुण अथवा सगुण होय जैसे कि पृथिवी गन्धादिक गुणों के योग होने से सगुण है और वही पृथिवी चेतन और आकाशादिकों के गुणों से रहित होने से निर्गुण भी है वैसे ही अपने सर्वज्ञादि गुणों से सदा सहित होने से परमेश्वर का नाम सगुण है और उत्पत्ति, स्थिति, नाश, जड़त्वादिक जगत् के गुणों से रहित होने से परमेश्वर निर्गुण भी है। वैसे सब जगहों में विचार लेना। (स० प्र० प्र० सं० पृ० २१)

(ख) गण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गणयन्ति ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुणः ईश्वरः' जितने सत्त्व, रजस्, तमः, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि जड़ के गुण अविद्या, अल्पज्ञता, राग-द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं उनसे पृथक् है। इसमें 'अशब्दमस्पर्शम-रूपमव्ययम्' (कठ ३-१५) इत्यादि उपनिषदों का प्रमाण है। जो शब्द स्पर्श रूपादि गुण रहित है इससे परमात्मा का नाम निर्गुण है। 'यो गुणैः स वर्तते स सगुणः' जो सबका ज्ञान सर्वसुख पवित्रता अनन्त बलादि गुणों से युक्त है इसलिए परमेश्वर का नाम सगुण है।

जैसे पृथिवी गन्धादि गुणों से सगुण और इच्छादि गुणों से रहित होने से निर्गुण है वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर निर्गुण और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने से सगुण है। अर्थात् ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो सगुणता निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड़ पदार्थ निर्गुण और अपने गुणों से सहित होने से सगुण वैसे ही जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव निर्गुण और इच्छादि गुणों से सहित होने से सगुण। ऐसे ही परमेश्वर को भी समझना चाहिये। (स० प्र० पृ० ११ स्तं० २)

श्री महाराज के इन लेखों को पढ़ने से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(i) सगुण तथा निर्गुण शब्द सापेक्ष हैं निरपेक्ष नहीं, अर्थात् निर्गुण का अर्थ है कुछ गुणों से रहित, जो उसमें रह नहीं सकते और सगुण का अर्थ है कुछ गुणों से युक्त, जो उसमें रह सकते हों। इसीलिए परमेश्वर को निर्गुण भी कह सकते हैं तथा सगुण भी, अन्यथा एक ही वस्तु का निर्गुण तथा सगुण होना सम्भव नहीं।

(ii) निर्गुण शब्द में 'निर्' उपसर्ग का अर्थ अभाव तो है ही, किन्तु पृथक्त्व तथा भेद भी है।

(iii) ऊपर लिखे "उत्पति स्थिति नाश जड़त्वादिक जगत् के गुण से रहित होने से परमेश्वर निर्गुण हैं' यहाँ 'स्थिति' से आशय उत्पत्ति पूर्वक स्थिति से है, क्योंकि केवल स्थिति तो परमात्मा में भी है ही।

(iv) 'गण्यन्ते येते गुणाः वा यैर्गणयन्ति ते गुणाः' यह लेख सम्भवतः मुद्रक शोधक प्रमाद से अशुद्ध छपता चला आ रहा है। इसके स्थान पर 'गुण्यन्ते ये ते गुणा यैर्गुणयन्ति ते गुणाः' ऐसा पाठ होना चाहिये, क्योंकि 'गुण' धातु के विद्यमान होते हुए सरलता से गुण शब्द के सिद्ध होने पर भी 'गण' धातु से निपातन द्वारा गुण शब्द बनाना कुछ समझ में नहीं आता फिर भी सत्यार्थप्रकाश की पाण्डुलिपि को विना देखे यह निश्चय पूर्वक कह सकना असम्भव है, किन्तु प्रतीत यही होता है।

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैतानुसारी भाष्यकार लिखते हैं 'वस्तुतो गुणाभावात् निर्गुणः' अर्थात् भगवान् में वस्तुतः गुण-सम्बन्ध नहीं है, अतः वे निर्गुण कहाते हैं। वेदान्त भाष्यकारों की दृष्टि सापेक्षवाद की नहीं है, अपितु वे निरपेक्ष गुणाभाव मानने वाले हैं। उनके इस विचार का आधार है 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता. ६-११) यह उपनिषत् वाक्य। इस विचार में 'निर्' उपसर्ग का अर्थ है अत्यन्ताभाव। आशय यह कि ब्रह्म एकान्त निर्गुण हैं। उनमें कोई गुण नहीं है। सत् चित् आनन्द ये उसके गुण नहीं, अपितु उनका स्वरूप है, अपना रूप है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से ब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ आदि शब्द न तो परस्पर पर्यायवाची हैं और न एक ही अर्थ को कहने वाले हैं। यह विषय 'पंचदशी' 'वेदान्त-परिभाषा' 'वेदान्तसार' आदि ग्रन्थों से समझ लेना चाहिये, यदि जानने की इच्छा हो। प्रकृत से असम्बद्ध तथा अनुपयुक्त होने से इसका विस्तार तथा विवेचन शोभन ज्ञात नहीं हुआ।

(ख) दूसरे भाष्यकार रंगनाथ, जिनका संबन्ध विशिष्टाद्वैत से है, लिखते हैं—

'सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः' आशय यह कि सत्त्वादि गुण रहित होने से भगवान् निर्गुण हैं, कुछ स्वरूपतः निर्गुण नहीं। इनकी दृष्टि

भी सापेक्ष ही है, क्योंकि इस सम्प्रदाय में भगवान् को निखिलकल्याणगुणाकर माना जाता है।

(ग) निरुक्तिव्याख्याकार लिखते हैं।

स्थितोऽपि नीरक्षीरवज्जगतोऽस्पर्शनात् गुणैः,
उक्तः स निर्गुण इति।

अर्थात् संसार में रहकर भी उसके गुणों से पृथक् है, इसलिये भगवान् निर्गुण कहाते है। यहाँ 'निर' का अर्थ पृथक्त्व है। निर्वचन का स्वरूप होगा 'निर्गतो गुणेभ्यः'। ध्यान रहे कि विशिष्टाद्वैत अद्वैतावृत द्वैत है।

३—'निर् निश्चयेन गुणा यत्र स निर्गुणः' यह भी एक निर्वचन है। तब आशय यह होगा कि निश्चय पूर्वक गुणानुयोगी होने से भगवान् निर्गुण कहायेंगे। अर्थात् गुणवान् होने से भगवान् निर्गुण कहाये। भगवान की महिमा ही तो है। निर् उपसर्ग निश्चयवाची है इसमें प्रमाण है—'निर्निश्चयनिषेधयोः' (अमर. ३. ४. २५३) यह अमर तथा 'निर्निश्चये क्रान्ताद्यर्थे निर्विशेष-निषेधयोः' यह विश्वकोष।

निर्गुण और सगुण शब्दों के भगवदर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

निर्गुणाय नमः सगुणाय नमः

प्रिय

१—इसका निर्वचन करते हुए महाराज लिखते हैं—

(क) 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च इस धातु से प्रिय शब्द सिद्ध होता है प्रीणाति सर्वान् धर्मात्मनः अथवा प्रीयते धर्मात्मभिः स प्रियः' जो सब शिष्टों और मुमुक्षुओं को अपने आनन्द से प्रसन्न करदे अथवा जिसको प्राप्त होके सब जीव प्रसन्न होय जायँ इससे परमेश्वर का नाम प्रिय है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. २३)

(ख) प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च इस धातु से प्रिय शब्द सिद्ध होता है 'यः पृणाति प्रीयते वा स प्रियः' जो सब धर्मात्माओं मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता है और सब को कामना के योग्य है इसलिये उस ईश्वर का नाम प्रिय है। (स. प्र. पृ. १२ स्तं. २)

२—प्री प्रीतौ से भी प्रिय शब्द बन सकता है, तब निर्वचन होगा प्रणोतीति प्रियः' अर्थात् जो सबसे प्रीति करता है वह प्रिय है। भगवान् की वस्तुएं सबके लिये समान रूप से हैं। शीतल वायु सभी को शीतलता प्रदान करती है, चन्द्र की चांदनी प्रत्येक को आह्लादित करती है। वह पापी और पुण्यात्मा का भेद नहीं देखती, वह भगवान् को स्वीकार करता है या नहीं, यह चिन्ता नहीं करती।

प्रिय शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर प्रिय शब्द भगवान् का वाचक है—

सहस्रधारं वृषभं पयोवृधं प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत्॥

ऋ० ९-१०८-२

सहस्रधारम् = अनेक शक्तियों के भण्डार, **वृषभम्** = कामनाओं के वर्षक, **पयोवृधम्** = रक्षक तथा पालक, **ऋतम्** = सत्यस्वरूप, **बृहत्** = परम महान्, **प्रियम्** = सर्वप्रिय होने से, सबसे प्रेम करने से, 'प्रिय' नाम से पुकारे जाने वाले भगवान् को, **देवाय जन्मने** = अपने में देवत्व की उत्पत्ति के लिये पुकारता हूँ। **यः** = जो **राजा** = स्वयं प्रकाश है, **देवः** = दिव्य गुणयुक्त है तथा **ऋतजातः ऋतेन विवावृधे** = जो सत्य स्वरूप करके प्रसिद्ध और अपनी अखण्ड परिपूर्ण सत्ता के कारण ही सर्वत्र विद्यमान है।

आशय यह कि भगवान् अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण हैं, परम सत्य तथा देव हैं, अतः हम उनसे ही दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। वे प्रिय हैं, हमसे प्रेम करते हैं, अतः हमें अवश्य उक्त गुणों का प्रदान करेंगे।

प्रियाय नमः

आप्त

इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

१—आप्लृ व्याप्तौ इस धातु से आप्त शब्द सिद्ध होता है 'यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति वा सर्वैर्धर्मात्मभिराप्यते छलादिरहितः स आप्तः' जो सत्योपदेशक सकल विद्यायुक्त सब धर्मात्माओं को प्राप्त

होता है और धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य छलकपटादिरहित है इसलिये उस परमात्मा का नाम आप्त है। (स. प्र. पृ. १२ स्तं. २)

आशय यह कि 'आप्नोति' का अर्थ यहाँ 'व्याप्नोति' नहीं अपितु 'प्राप्नोति' है अर्थात् जो धर्मात्माओं को प्राप्त होता है तथा जिसे धर्मात्मा प्राप्त करते हैं वह आप्त है, और इसलिए परमात्मा का नाम आप्त है। मनुष्य उसी के पास जाना चाहते हैं जिस पर उनका विश्वास होता है, विश्वास जमता है सचाई निष्कपटता तथा ईमानदारी से। इस प्रकार 'छलकपटादि रहित होना' यह आप्त शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, व्युत्पत्तिनिमित्त नहीं।

२—न्यायभाष्यकार लिखते हैं—'साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तया प्रवर्तत इत्याप्तः' अर्थात् वस्तु के साक्षात्कार यथार्थ दर्शन का नाम आप्ति है और आप्ति द्वारा जो प्रवृत्त होता है वह है आप्त। इस प्रकार अपने अपने विषय में सब आप्त हैं। किन्तु इन आप्तों में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि के कारण अनाप्तता भी आ सकती है। भगवान् इन सब दोषों से परे हैं, अतः वे परमाप्त हैं, उनसे बढ़कर आप्त कोई नहीं हैं।

आप्त शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर आप्त शब्द भगवान् का वाचक है—

स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम्।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः।

अथर्व ५-२-७

हे **वर्ष्मन्** = हे बलवान् पुरुष तू **पुरुवर्त्मानम्** = अनेक मार्ग वाले **समृभ्वाणम्** = प्रकाश स्वरूप **आप्त्यानामिनतमम्** = परम प्राप्तव्य **आप्तम्** = धर्मात्मा उन्हें प्राप्त करते हैं, वे धर्मात्माओं को ही प्राप्य हैं। तथा परमविश्वसनीय हैं अतः 'आप्त' नाम से पुकारे जाने वाले भगवान् की ही **स्तुष्व** = स्तुति कर। **भूर्योजाः** = बड़े तेजस्वी भगवान् **शवसा पृथिव्याः प्रतिमानम् आदर्शति** = अपने बल से बड़े-बड़े लोक लोकान्तरों को कर दिखाते हैं और **प्रसक्षति** = उनका संचालन भी करते हैं।

आशय यह कि भगवत्प्राप्ति के अनेक उपाय तथा मार्ग हैं, धर्मात्मा सज्जन उनसे भगवान् की प्राप्ति करते हैं। वे परम बलवान् तथा ओजस्वी हैं।

क्षणमात्र में विशाल-विशाल लोकलोकान्तरों की रचना तथा उनका संचालन करते हैं। उन्हीं की स्तुति सबको करनी योग्य है।

आप्ताय नमः

अचिन्त्य

श्री महाराज इस शब्द पर लिखते हैं—

१—चिन्ततुं योग्यश्चिन्त्यः न चिन्त्योऽचिन्त्यः' जो विषयासक्त पुरुषों के चिन्तन में नाम सम्यक् जानने में नहीं आते इससे परमेश्वर का नाम अचिन्त्य है। (स. प्र. प्र. सं पृ. २२)

श्रुति में दो प्रकार के वाक्य मिलते हैं। एक ब्रह्म को अचिन्त्य बताते हैं, जैसे **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह** (तै. उ. २।६)। दूसरे वाक्य उसे चिन्त्य अथवा ज्ञेय भी बताते हैं। जैसे **'तमेवैकं जानथ आत्मानम्'** (मु० २.२.५)। इस प्रकार ब्रह्म को ज्ञेय तथा अज्ञेय बताने वाले वाक्यों में परस्पर विरोध आता है। इसका समाधान श्री महाराज ने चिन्तन करने वालों को एक विशेषण द्वारा नियन्त्रित करके कर दिया। अर्थात् अज्ञेय बताने वाली श्रुतियां दुष्ट पुरुषों से सम्बद्ध हैं और ज्ञेय बताने वाली सत्पुरुषों से। इस प्रकार अधिकारी भेद से इन्होंने ज्ञेय तथा अज्ञेय अथवा चिन्त्य तथा अचिन्त्य की व्यवस्था कर दी।

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि एक दूसरी प्रकार की है। उसका कहना है कि उक्त श्रुतियों के विरोध का समाधान **'विकल्प'** द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि विकल्प क्रिया में होता है ज्ञान में नहीं। क्योंकि क्रिया पुरुष के आधीन होती है वह करे, न करे, या भिन्न प्रकार से करे। जब कि ज्ञान वस्तुतन्त्र है और वस्तु एक रूप ही हो सकती है, द्विरूप नहीं। अतः इस स्थल पर विकल्प नहीं माना जा सकता। **उत्सर्गापवाद** भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस प्रकार की यहां व्यवस्था बन नहीं सकती, जबकि दोनों ही वाक्य सामान्य विषय का निर्देश करते हैं। **विषय भेद** भी यहां है नहीं, क्योंकि दोनों श्रुतिओं का विषय एक ही ब्रह्म है। रहा **अधिकारी भेद**, वह भी नहीं बन सकता क्योंकि मनुष्य मात्र को ज्ञान का अधिकार है। अतः

उक्त विरोध जैसा का तैसा ही रहा। इसका समाधान शास्त्रकारों ने इस प्रकार किया है।

प्रथम यह जानना चाहिये कि विषय का ज्ञान होता कैसे है, उसकी क्या प्रक्रिया है। इसको एक दृष्टान्त से समझना चाहिये। अन्धकार में प्रकाश लाने पर प्रकाश दो कार्य करता है एक अन्धकार का नाश, दूसरा तदनन्तर उन प्रथम अन्धकारावृत वस्तुओं का प्रकाश। प्रकाश जब वस्तु पर पड़ता है अर्थात् उसे व्याप्त करता है, तब वह तद्विषयक अन्धकार का नाश करता है, अनन्तर उस पर अपना फल= उसको प्रकाशित करना, उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जब बुद्धिवृत्ति वस्तु पर पड़ती है तब वह उसे व्याप्त कर उसके विषय के अज्ञान का नाश करती है उसका नाम है 'वृत्ति-व्याप्ति' अनन्तर वह वृत्ति उसे प्रकाशित भी करती है। अब इसे दार्ष्टान्तिक से मिला कर देखा जाय। यदि प्रदीप जलाया जाय तो उसका प्रकाश जैसे प्रकाशशून्य पदार्थों को व्याप्त करता है वैसे ही प्रकाश युक्त पदार्थ सूर्य अथवा दूसरे प्रदीप को भी व्याप्त करता है अर्थात् प्रदीप का प्रकाश समान रूप से अप्रकाशमान तथा प्रकाशमान पिण्डों पर पड़ता है, किन्तु पदार्थ दर्शन रूप फल केवल अप्रकाशमान पिण्डों पर उत्पन्न होता है प्रकाशमान पिण्डों पर नहीं। वे स्वयंप्रकाश होने से स्वयं ही अपना दर्शन कहा देते हैं, परमुखापेक्षी नहीं है। इसी प्रकार बुद्धि-वृत्ति भी समान रूप से जड़ तथा चेतन ब्रह्म को विषय बनाती है अर्थात् उस पर पड़कर उसे व्याप्त करती है। इसका शास्त्रीय नाम है 'वृत्ति-व्याप्ति'। किन्तु प्रकाशित जड़ पदार्थों को ही करती है चेतन को नहीं, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है अत एव वृत्ति उसका ज्ञान नहीं करा सकती अर्थात् ज्ञानरूप फल वहां उत्पन्न नहीं कर सकती। इस फल का उत्पन्न करना कहाता है 'फल-व्याप्ति'। यह फलव्याप्ति ब्रह्म के विषय में नहीं है। तब परिणाम यह निकला कि ज्ञेय बताने वाली श्रुतियां उसमें वृत्ति-व्याप्ति का निर्देश करती हैं, और अज्ञेय बताने वाली फलव्याप्ति का निषेध करती हैं। इस प्रकार दोनों का सुन्दर समन्वय होकर विरोध का परिहार हो गया। यही बात शास्त्र में इस प्रकार कही है—

ब्रह्मण्यज्ञाननशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम्॥

(पं० द० ७-९१।)

अर्थात् ब्रह्मविषयक अज्ञान के नाश के लिये वृत्तिव्याप्ति तो शास्त्रों ने स्वीकृत की है (यही उसकी ज्ञेयता है, किन्तु शास्त्रकारों ने उसमें वृत्ति द्वारा दर्शन रूप फल की उत्पत्ति नहीं स्वीकार की है, यही उसकी अज्ञेयता है। क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है विज्ञाता है। उपनिषत् कहती है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ-५-१५) येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' (बृह० २-४-१४) ।

अचिन्त्य शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है ।

अचिन्त्याय नमः

न्यायकारी

इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

(क) धर्म, न्याय और पक्षपात का त्याग ये तीनों एक अर्थ के वाचक हैं। 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' (न्या० द० प्रथम सूत्र भूमिका) यह न्यायशास्त्र सूत्रों के ऊपर वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य का वचन है। जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होय उसका नाम न्याय है 'न्यायं कर्तुं शीलमस्य सोऽयं न्यायकारी' जिसका न्याय करने का ही स्वभाव होय और अन्याय करने का लेशमात्र सम्बन्ध कभी न होय ऐसा परमेश्वर ही है इससे परमेश्वर का नाम न्यायकारी है।

(स० प्र० प्र० सं० पृ० १९)

(ख) णीञ् प्रापणे इस धातु से न्याय शब्द सिद्ध होता है 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' यह वचन न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य का है। 'पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः' जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षा करने पर सत्य सत्य सिद्ध हो तथा पक्षपात रहित आचरण धर्मरूप है वह न्याय कहाता है। 'न्यायं कर्तुं शीलमस्य स न्यायकारी' न्याय अर्थात् पक्षपात रहित धर्म करने का ही स्वभाव है इससे उस ईश्वर का नाम न्यायकारी है। (स० प्र० पृ० ११ स्तं० २)

आशय यह कि पक्षपात रहित कार्य करने से भगवान् का नाम न्यायकारी है।

आशंका तथा समाधान

इस शब्द की रचना पर आक्षेप यह है कि श्री महाराज ने जिस प्रकार इसका निर्वचन किया है तथा जिस धातु से इसकी रचना मानी है, वह अपाणिनीय है अर्थात् पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। क्योंकि पाणिनि आचार्य निपूर्वक इण् धातु से 'न्याय' शब्द की रचना मानते हैं (द्र० अष्टा० ३।३।३७)

इसका उत्तर यह है कि

(क) आक्षेप करने वालों ने पाणिनीय व्याकरण का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन नहीं किया, क्योंकि पाणिनि ने ही इस शब्द को दो प्रकार से बनाया है—

(i) परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः (३-३-३७) इस सूत्र द्वारा प्रकृति प्रत्यय तथा अर्थ का स्पष्ट निर्देश करते हुए।

(ii) अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च (३-३-१२२) इस सूत्र द्वारा निपातन से। यदि दोनों ही स्थलों पर नी पूर्वक इण् धातु से ही न्याय शब्द बनाना है तो निपातन करने से क्या लाभ ?

(ख) णीञ् धातु से इस शब्द की रचना हो सकती है इस विषय में अन्य आचार्य भी सहमत हैं—

(ग) आचार्य उदयन के प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायकुसुमाञ्जलि की प्रसिद्ध प्रकाश नाम की व्याख्या में म. म. वर्धमान न्याय शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—**'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्यायः'** (न्या० कु० सोसाईटी संस्करण पृ. २)। यदि इन्हें यहाँ नी पूर्वक इण् धातु अभिप्रेत होती तो **'नीयते=ज्ञायते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्यायः'** ऐसा लिखते, जैसा कि केशव मिश्र रचित तर्कभाषा की व्याख्या सारमञ्जरी में इस शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—**'न्यायः पञ्चावयवोपपन्नं वाक्यम् तन्नीयते ज्ञायते अनेनेति, प्राधान्येन तत्प्रतिपादके न्यायशास्त्रे'**। इसलिये आचार्य का इकट्ठा 'नीयते' पद और फिर उसका विवरण 'प्राप्यते' स्वयं घोषणा कर रहा है कि मैं णीञ् प्रापणे से बना हूँ।

(घ) विष्णुसहस्रनाम में भगवान् के नामों में 'न्याय' का भी उल्लेख है वहाँ का लेख निम्न है—

अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान्न्यायो नेता समीरणः।

यहाँ अग्रणी, ग्रामणी, नेता सभी शब्द णीञ् धातु से ही संबद्ध हैं। अतः

'सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इस न्याय से इनके मध्य में पठित न्याय शब्द भी णीञ् धातु से ही बना होना चाहिये।

(ङ) शब्दकल्पद्रुम कोष शकाब्द १८०९ का संस्करण पृ. ९३० पर लिखा है—**'नीयन्ते प्राप्यन्ते विवक्षितार्था येनेति। णी + अध्याय-न्यायोद्यावसंहाराश्च (३।३।१२२) इति घञ्प्रत्ययेन निपातनात् साधु।**

अन्य प्रकार से विचार—यदि ये सब समाधान न हों तो भी महाराज कृत निर्वचन तथा साधन प्रकार को अशुद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शब्द रचना के विषय में नियम यह है **'व्युत्पत्तिर्हि यथाकथंचित् कर्तव्या उपायानामनियमात्'** इनके आगे फिर कैयट लिखते हैं—**गिरिरस्यास्तीति लोमादिषु दर्शनात् शप्रत्ययः, अन्ये त्वाहुः गिरौ गिरौ शेते इति संख्यैकवचनादिति सप्तम्यन्तात् शस् प्रत्ययः, व्युत्पत्तिर्हि यथाकथंचित् कर्तव्या उपायानामनियमात्। तदुक्तं हरिणा—**

वैरवसिष्ठगिरिशास्तथैकागारिकादयः।
कैश्चित् कथंचित् व्याख्याता निमित्तावधिसंकरैः॥

(महाभाष्य ३-२-१५ के भाष्य कैयट)

आशय यह कि एक ही शब्द भिन्न-भिन्न प्रकृति प्रत्ययों से बन सकता है क्योंकि प्रयोजन शब्दसाधुत्व सम्पादन करना है और उसके लिए अनेक उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है। जैसे गिरिशः शब्द **गिरौ शेते** ऐसा निर्वचन करने पर गिरि उपपद शीङ् धातु से **गिरौ डश्छन्दसि** (३-२-१५) वार्तिक द्वारा 'ड' प्रत्यय करके बनेगा, यही शब्द **'गिरिरस्यास्तीति'** ऐसा निर्वचन करने पर **'लोमादिपामादि'** (५-२-१०) सूत्र से **'शन्'** प्रत्यय करके भी बन जाता है जैसे रोमशः। इसी प्रकार **'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्'** (५-४-४३) सूत्र द्वारा गिरि शब्द से वीप्सा अर्थ में **'शस्'** प्रत्यय करके गिरिशः बनता है। परिणाम वही कि शब्द रचना के उपाय अनेक हैं जैसा अर्थ आपको अभीष्ट हो, तदनुसार प्रकृति प्रत्यय की कल्पना कर लीजिए और शब्द बना लीजिए। इसी अभिप्राय से निरुक्तकार ने अग्नि शब्द को विभिन्न अर्थों की दृष्टि से विभिन्न प्रकृति प्रत्ययों द्वारा विभिन्न निर्वचन करके बनाया है। प्रसिद्ध वैयाकरण हरि ने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ में **वैरवसिष्ठगिरिशाः'** कारिका द्वारा यही प्रतिपादित किया है। आगे भी आपने इसी पुस्तक के द्वितीय काण्ड में गो शब्द की रचना के विषय में लिखा है—

कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेगर्जतेर्गमेः।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्॥ (वा. प. २-१७५)

आशय यह कि आचार्यों ने गो शब्द के निर्वचन गॄ, गर्ज, गम, गु तथा गद इन भिन्न भिन्न प्रकृतियों से किये हैं। परिणाम वही कि 'व्युत्पत्तिर्हि यथाकथंचित् कर्तव्या उपायानामनियमात्'।

न्यायकारी शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है।

न्यायकारिणे नमः

सर्वशक्तिमान्

१—श्री महाराज ने इस शब्द का विग्रह इस प्रकार दर्शाया है—

(क) 'सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्य स सर्वशक्तिमान्' जिसको सब शक्ति नाम सब सामर्थ्य विद्यमान होय उसका नाम सर्वशक्तिमान् है। अर्थात् जो किसी का लेशमात्र सामर्थ्य का आश्रय न लेवे और सब जगत् उसका आश्रय करता है इससे परमेश्वर का नाम सर्वशक्तिमान् है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. १९)

(ख) सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः' जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता अपने ही सामर्थ्य से अपने सब काम पूरे करता है इसलिये उस परमात्मा का नाम सर्वशक्तिमान् है। (स. प्र. पृ. ११ स्तं. २)।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि श्री महाराज ने सर्वशक्तिमान् शब्द की विशेष परिभाषा कर दी है। इसका आशय यह है 'अपना कार्य करने में निरपेक्षता ही सर्वशक्तिमत्ता है, ऐसा यदि न किया जाय तो 'परमात्मा अपना नाश कर सकता है वा नहीं, यदि कर सकता है तो विनाशी हुआ और यदि नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् नहीं हुआ आदि अनेक निरर्थक निरंकुश आशंकायें उपस्थित होंगी, जिनका समाधान अशक्य होगा। आशय यह कि यहाँ 'सर्व' शब्द का अर्थ है 'योग्य सर्व' अर्थात् जिसमें सम्पूर्ण योग्य शक्तियाँ हैं। अन्यान्य आचार्यों ने भी सर्वशक्तिमान् का अर्थ योग्य सर्वशक्तिमान् ही लिया है।

२—ऊपर सर्वशक्तिमान् में बहुव्रीहि समास स्वीकार किया गया है[१] किन्तु कर्मधारय समास मान कर भी यह शब्द निष्पन्न हो सकता है।

इस अवस्था में सर्व एवं **शक्तिमान्** ये दो पृथक् पृथक् भगवान् के नाम हैं। इनको एकत्र करके सर्वशक्तिमान् शब्द बनेगा। सर्व भगवान् का नाम हैं ऐसा गीता से प्रमाणित होता है। अर्जुन कहते हैं—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
(गीता ११.४०)

इसमें पूर्वार्ध में 'सर्व' भगवान् का नाम दिया गया है, उतरार्ध में उनके इस नाम का कारण बताया गया है मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में होता है तब शक्तिमान् का अर्थ होगा 'प्रशस्ताः शक्तयो विद्यन्तेऽस्मिन्' अर्थात् जिनमें प्रशस्त शक्तियां ही हैं अप्रशस्त नहीं है। है भी ठीक, क्योंकि भगवान् निखिल-कल्याणगुणाकर हैं, दुर्गुण उन्हें छू भी नहीं गये हैं। इस प्रकार शक्तिमान् भी भगवान् का नाम हुआ। अब 'सर्वश्चासौ शक्तिमान् सर्वशक्तिमान्' अर्थात् जगत्संहार कर्ता होकर प्रशस्त शक्तियुक्त पुरुष हुआ सर्वशक्तिमान् और ऐसे भगवान् ही है।

सर्वशक्तिमान् शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग मृग्य है।

सर्वशक्तिमते नमः

अन्तर्यामी

श्री महाराज ने इसको अन्तः उपपद पूर्वक यम धातु से बनाया है। आप लिखते हैं—

---

१. हमारे विचार में 'सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्य' अथवा 'सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन्' इन्हें बहुव्रीहि का विग्रह मानने पर समस्त पद 'सर्व-शक्ति' होगा न कि 'सर्वशक्तिमान्'। अतः इसे बहुव्रीहि का विग्रह न कह कर मतुबन्त का अर्थ निर्देश मानना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने 'सर्वाश्चामी शक्तयः सर्वशक्तयः, ता अस्य अस्मिन् वा' ऐसा समस्त निर्देश न करके सर्वाः शक्तयः' ऐसा विगृहीत निर्देश किया है। सम्पा०।

(क) 'सर्वजगतोऽन्तर्यमयितुं शीलमस्य सोऽन्तर्यामी' जो सब जगत् के भीतर बाहर और मध्य में सर्वत्र व्याप्त हो के सबको जानते हैं और सब जगत् को नियम में रखने से परमेश्वर का नाम अन्तर्यामी है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. २१)

२—अन्तर्नियमितुं शीलमस्य सोऽन्तर्यामी' जो सब प्राणी और अप्राणी रूप जगत् के भीतर व्यापक होने से सबका नियम करता है। इस लिये उस परमेश्वर का नाम अन्तर्यामी है। (स. प्र. पृ. १२ स्तं. १)

उल्लिखित दोनों निर्वचनों के मूल में 'वेत्थ नु त्वं काप्य! तममन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति' (शत. १४-६-७-३) यह ब्राह्मण वाक्य कार्य कर रहा है। यह विषय अन्तर्यामी ब्राह्मण में बड़े ही विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है।

अन्तर्यामी पद का भगवदर्थ में प्रयोग मन्त्रादि में अन्वेषणीय है।

अन्तर्यामिणे नमः

सर्वजगत्कर्ता

इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

सर्वं जगत् करोतीति सर्वजगत्कर्ता' सो सब जगत् का करने वाला होने से परमेश्वर का नाम सर्वजगत्कर्ता है (स. प्र. प्र. सं. पृ० २१)

वास्तव में भगवान् ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत् के कर्ता कहलाने योग्य हैं।

सर्वजगत्कर्ता पद का ईश्वर वाचकत्व में प्रयोग अन्वेषणीय है।

सर्वजगत्कर्त्रे नमः

इति गुणवाचकशब्देषु विशेषणवाचकशब्दाख्यः प्रथमः खण्डः

२—विशेषण-शब्द, किन्तु लोक में भी संज्ञारूप से प्रयुक्त। ये शब्द संख्या में पाँच हैं—

परमात्मा	परमेश्वर
विश्वेश्वर	विश्वम्भर
भगवान्	

परमात्मा

१—श्री महाराज इस शब्द को परम तथा आत्मा दो शब्दों से मिलकर बना हुआ मानते है। आप लिखते हैं—

(क) परश्चासावात्मा च परमात्मा' जो सब जीवात्माओं से श्रेष्ठ होय उसका नाम परमात्मा है (स. प्र. प्र. सं० पृ. १०)

ध्यान रहे कि यह भाषा उल्लिखित संस्कृत का अर्थ नहीं है, अपितु उसका भाव है।

(ख) परश्चासावात्मा च, य आत्मभ्यः जीवेभ्यो परोऽतिसूक्ष्मः स परमात्मा' जो सब जीव आदि से उत्कृष्ट जीव, प्रकृति तथा आकाश से भी अतिसूक्ष्म और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है इससे ईश्वर का नाम परमात्मा है। (स. प्र. पृ. ७ स्तं. २)।

यहाँ पर उस आत्मा में परमत्व क्या वस्तु है यह स्पष्ट किया गया है। तथा समास भी दूसरे प्रकार से किया है। आशय यह कि सब आत्माओं में उत्कृष्ट होने में भगवान् परमात्मा कहाते हैं और वह उत्कर्ष उनकी सूक्ष्मता तथा सब का अन्तर्नियमन है।

आक्षेप तथा समाधान

महाराज के इन निर्वचनों पर आक्षेप यह है कि **'परश्चासावात्मा'** ऐसा विग्रह करने पर **'परात्मा'** पद बनेगा, न कि परमात्मा, अतः यह विग्रह अशुद्ध है।

इसका समाधान यह है कि **'परश्चासावात्मा'** यह विग्रहवाक्य न होकर फलितार्थकथनपरक वाक्य है। ऐसा लेख प्रायः प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में बहुत्र दृष्ट है। जैसे—

(क) प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' (१-१-३) इस न्याय-सूत्र का भाष्य करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं **अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं**

वृत्तिः प्रत्यक्षम्' इस वाक्य को प्रत्यक्ष शब्द का विग्रह समझकर कोई भाष्यकार पर आक्षेप न करे, इसलिये वार्तिककार लिखते हैं 'प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षमिति प्रादिसमासः भाष्यं तु फलितार्थकथनपरम् अन्यथा अव्ययीभावसमासाश्रयणे अक्षस्येति षष्ठी श्रवणानुपपत्तेः'। आशय यह कि 'अक्षस्याक्षस्य' आदि भाष्यकारका वचन विग्रहपरक नहीं, अपितु फलितार्थकथन परक है। ऐसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये।

(ख) नीचीनवारं वरुणः कबन्धम्' (ऋक् ५-२५-३) इस मन्त्र में आये नीचीनवारं पद का व्याख्यान करते हुए स्कन्दस्वामी निरुक्तभाष्य में लिखते हैं 'नीचं वारं यस्य स नीचीनवारोऽधोमुखम्' (स्कन्द १०-४) यहाँ भी आचार्य का 'नीचं वारं यस्य' वाक्य फलितार्थ कथनपरक है।

(ग) विष्णुसहस्रनाम के अद्वैतानुसारी भाष्य में वसु शब्दका विग्रह करते हुए लिखा है—'वसुः आच्छादयत्यात्मस्वरूपं माययेति वा वसुः' (विं. स. ना. श्लो. ४२)।

आशय यह कि यह आचार्यों की शैली है कि जहाँ समझा कि अभिप्राय स्पष्ट है, वहाँ अर्थ निर्देश की दृष्टि से पर्यायपद से विग्रह-वाक्य के सदृश फलितार्थ कथन परक वाक्य लिख दिया। अतः उल्लिखित स्थल पर शुद्धि अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं है।

२—निरालम्बोपनिषत्कार कहते हैं 'देहादेः परतरत्वात् ब्रह्मैव परमात्मा' निर्वचन का स्वरूप होगा—'परमश्चासावात्मा परमात्मा'।

३—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में लिखा है 'परमश्चासावत्मा चेति परमात्मा, कार्यकारणविलक्षणो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः'। निर्वचन तो इन्होंने भी पूर्वोक्त ही माना है किन्तु इनकी दृष्टि से परमत्व है 'कार्य-कारण से विलक्षण नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव होना'।

(ख) दूसरे 'गुणदर्पण' भाष्य के रचयिता इस शब्द पर लिखते हैं 'यथा सर्वाणि भूतान्यनेनात्मवन्ति नैवमयमन्येन केनचित् अतः परमात्मा'। आशय यह कि निर्वचन तो 'परमश्चसावात्मा चेति' यही है किन्तु उस आत्मा में परमत्व या उत्कृष्टता है 'अन्यात्मता-राहित्य'। इस प्रकार के निर्वचन में प्रमाण है 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नीति' (छान्दो ७.२४.१) यह उपनिषत् वचन है।

४—पं० नीलकण्ठ भट्ट महाभारत के प्रसिद्ध व्याख्याता इस शब्द का निर्वचन इस प्रकार करते हैं **'अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेभ्यः पञ्चभ्योऽन्यः षष्ठः आनन्दमात्रस्वरूपः परमात्मा'** आशय यह इनकी दृष्टि से परमत्व है 'नित्यानन्दस्वरूपत्व' ।

५—विष्णु पुराण में लिखा है **'परः पराणां परमः परमात्मात्मसंस्थितः'** (वि. पु. १.२.१० । तब निर्वचन का स्वरूप होगा–**'पराणां परः परमः सर्वश्रेष्ठः और परमश्चासावात्मा परमात्मा'** । यहां पर आत्मा में परमता या उत्कर्ष है 'अन्तर्यामिता', जैसा कि 'परमात्मात्मसंस्थितः' से प्रतीत होता है । महाराज भी 'सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है' ऐसा लिख चुके हैं । इस आशय का मूल है शतपथ का अन्तर्यामी ब्राह्मण ।

परमात्मा शब्द का भगवत्परक प्रयोग—निम्न स्थल पर परमात्मा शब्द भगवान् का वाचक है—

यो वै वेद महादेवं प्रणवं पुरुषोत्तमम् ।

ओंकारं परमात्मानं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु । ऋक्परि. ३२.२१

यः = जो **मे मनः** = मेरा मन **शिवसंकल्पमस्तु** (अस्ति) = शिव संकल्प वाला है **तत् वै** = वही **पुरुषोत्तमम्** = सर्वथा क्लेश सम्पर्क शून्य होने से सब पुरुषों में श्रेष्ठ **प्रणवम्** = अनेक प्रकार से स्तूयमान **महादेवम्** = सब देवों में पूजित **ओंकारम्** = ओंकार जिनकी प्रतीक है ऐसे **परमात्मानम्** = सब आत्माओं में उत्कृष्ट होने से, नित्यशुद्धबुद्धस्वभाव होने से, नित्यानन्दरूप होने से, आत्माओं के भी अन्यर्यामी भी होने से परमात्मा कहे जाने वालेभगवान् को **वेद** = जानता है । आशय यह कि सदाचारी सद्विचार वाला ही उक्त गुणगण-विशिष्ट भगवान् को पा सकता है, अन्य नहीं ।

परमात्मने नमः

परमेश्वर

१—इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

(क) ईश्वर नाम सामर्थ्य वाले का है जो सब ईश्वरों में परम श्रेष्ठ होय उसका नाम परमेश्वर है । ब्रह्मादिक देवों में से एक एक

ऐश्वर्य वाला हैं जैसा कि मनुष्यों में एक एक ऐश्वर्य वाला है वैसे ही ब्रह्मादिक देवों में जो सबसे श्रेष्ठ होय और चक्रवर्त्यादिक राजाओं में परम नाम श्रेष्ठ होय उसका नाम परमेश्वर है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १०)

(ख) सामर्थ्य वाले का नाम है ईश्वर 'य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः' जो ईश्वरों अर्थात् समर्थों में समर्थ जिसके तुल्य कोई भी न हो उसका नाम परमेश्वर है। (स० प्र० पृ० ७ स्तं० २)

आशय यह कि स्वतः सामर्थ्यवान् होने से भगवान् परमेश्वर कहाते हैं।

[विशेष—'य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः' यह परमेश्वर शब्द का विग्रह नहीं है, फलितार्थकथनमात्र है। विग्रह तो 'परमश्चासावीश्वरः परमेश्वरः' ऐसा ही होगा। सम्पा०]

परमेश्वर शब्द का भगवदर्थवाचक प्रगोग अन्वेषणीय है।

परमेश्वराय नमः

विश्वेश्वर—विश्वम्भर

इन शब्दों पर महाराज लिखते हैं—

१—(क) विश्वस्येश्वरः विश्वेश्वरः' विश्वनाम जगत् का ईश्वर होने से परमेश्वर का नाम विश्वेश्वर है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १८)

(ख) 'यो विश्वमीष्टे स विश्वेश्वरः' जो संसार का अधिष्ठाता है इससे उस परमेश्वर का नाम विश्वेश्वर है। (स० प्र० पृ० ११ स्तं० १)

२—(क) विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरः 'विश्वका धारण और पोषण का कारण होने से परमेश्वर नाम विश्वम्भर है। (स०प्र० प्र०सं० पृष्ठ२३)

(ख) डुभृञ् धारण पोषणयोः विश्व पूर्वक इस धातु से विश्वम्भर शब्द सिद्ध होता है। 'यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा विश्वम्भरो जगदीश्वरः' जो जगत् का धारण व पोषण करता है इसीलिये उस परमेश्वर का नाम विश्वम्भर है। (स० प० प्र० १३ स्तं० २)

विश्वेश्वर शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर विश्वेश्वर शब्द भगवान् का वाचक है—

विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।
विश्वभुक् विश्वमायुस्त्वं विश्वक्रीडारतिः प्रभुः ॥मैत्र्युप.५.१४.

विश्वात्मा = सम्पूर्ण जगत् के आत्मा **विश्वकर्मकृत्** = सम्पूर्ण कर्मबन्धनों का नाश करने वाले, उपनिषत् कहती है '**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे**' (मुण्डक २-२-८)। अर्थात् भगवान् के दर्शन से सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। **विश्वभुक्** = इस सम्पूर्ण जगत् का भोग करनेवाले भगवान् की दृष्टि से—जगत् को उत्पन्न करना, उसको मर्यादा में चलाना, तथा उसका लय करना यही भोग है। **विश्व-मायुः** = सम्पूर्ण जगत् को मापने वाले अर्थात् जगत् में सर्वत्र व्याप्त, श्रुति कहती है '**ईशावास्यमिदं सर्वम्**' (यजु. ४०-१) अर्थात् यह जगत् भगवान् से आवास्य है, भगवान् इसके ऊपर, नीचे, अन्दर, बाहर सब ओर विद्यमान हैं। **विश्वक्रीडारतिः** = इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति-रूप क्रीड़ा में निरत **प्रभु** = सामर्थ्यवान् अतएव **विश्वेश्वर** = विश्वेश्वर कहाने वाले भगवन्! **तुभ्यं नमः** = आपको हमारा नमस्कार हो ॥

विश्वम्भर शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—

निम्न स्थल पर विश्वम्भर शब्द भगवान् का वाचक है—

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा। अथ. २-१६-५

हे **विश्वम्भर** = विश्व का पालन पोषण करने से विश्वम्भर नाम धारण करनेवाले भगवान् **विश्वेन भरसा** = सम्पूर्ण तेज से **मा** = मेरी **पाहि** रक्षा करिये।

विश्वेश्वराय नमः। विश्वम्भराय नमः

भगवान्

(क) भगो विद्यते यस्य स भगवान्' जो अनन्तज्ञान अनन्त वैराग्यादिक नित्य गुणों से युक्त होने से परमेश्वर का नाम भगवान् है।

(स० प्र० प्र० सं० पृ० २२)

(ख) भज सेवायाम् इस धातु से भग, इससे मतुप् होने से भगवान् शब्द सिद्ध होता है। 'भगः सकलैश्वर्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स

भगवान्' जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त वा भजने योग्य है इसीलिये उस ईश्वर का नाम भगवान् है। (स० प्र० पृ० १२ स्तं० १)

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैतानुसारी भाष्य में निर्वचन तो 'भगोऽस्यातीति' यही किया है, किन्तु भग किसे कहते हैं यह बताने के लिये विष्णु पुराण से निम्न वचन उद्धृत किया है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरण॥
(वि० पु० ६० ५० ७४)

आशय यह कि 'ऐश्वर्य, बल, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन ६ पदार्थों का नाम हैं भग,[१] और ये हैं सम्पूर्ण प्राप्त जिन्हें, वे कहाते हैं भगवान्।

(ख) विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायानुसारी भाष्य में आचार्य श्री रंगनाथ लिखते हैं 'अशेषदोषविद्वेषिकल्याणस्वरूपतया परमपूज्यः भगवान्'। वरदाचार्य महोदय ने इस पङ्क्ति का विवरण इस प्रकार किया है 'अशेषदोषविद्वेषिकल्याणस्वरूपतया भगः गुणः तदुपलक्ष्यं स्वरूपमस्यास्तीति भगवान्'। अर्थात् परम कल्याण स्वरूपवान् होने से उन्हें भगवान् कहते हैं। इस निर्वचन का मूल है।

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयगुणादिभिः॥
(वि० पु० ६-५-७९)

यह पुराण वचन।

३—विष्णुपुराणकार लिखते हैं—

(क) उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
(६-७-७८)

---

१. काशिका ४।४।१३१ में लिखा है–'श्रीकामप्रयत्नमहात्म्यवीर्ययशस्सु भगशब्दः।' अर्थात् श्री-काम-प्रयत्न-महात्म्य-वीर्य-यश इन अर्थों में भग शब्द का प्रयोग होता है। ये सब पदार्थ अतिशय करके प्रभु में ही विद्यमान हैं, अतएव उसे भगवान् कहते हैं। सम्पा०

आशय यह कि उत्पत्ति आदि ६ पदार्थ कहाते हैं "भग" और वे हैं। ज्ञानमें जिसके वे हुए भगवान्। इसीलिये परमेश्वर को भगवान् कहते हैं।

(ख) इसी ग्रन्थ में निम्न दो श्लोक आते हैं—

सम्भर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः।
नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि।
स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥

वि. पु. ६. ५. ७३-७५

इन श्लोकों में भ, ग, तथा व अक्षरों का अर्थ दिया है भ का अर्थ बताया है—पोषण करने वाला तथा धारण करने वाला, ग का अर्थ है कर्म-फलप्राप्त कराने वाला, प्रलय करने वाला तथा रचयिता, और व का अर्थ है सब भूतों का उसमें निवास करना और सब भूतों में उसका निवास करना, इस प्रकार अखिल लोक का आत्मा होना। तब 'भश्च गश्च वश्च भगवाः' यह शब्द बनेगा। सम्भवतः यह निर्वचन 'भगवः' शब्द की दृष्टि से किया गया है। इस शब्द का प्रयोग लोक में पूजनीय के लिये किया जाता है—जैसे छान्दोग्य में आता है 'वेत्थ यथासौ लोको न सम्पूर्यत इति, न भगव इति, वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्तीति, नैव भगव इति' (५.३.३) इसीलिये ग्रन्थकारने आगे लिखा है—

तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः।
शब्दोऽयं नोपचारेण त्वन्यत्र ह्युपचारतः॥ ६.५.७७।

आशय यह कि भगवान् शब्द का मुख्य प्रयोग केवल ईश्वर के लिये ही है, शेष लोक में यह प्रयोग गौण हैं। यद्यपि लोक में भगवान् शब्द का प्रयोग लौकिक व्यक्तियों के लिये अत्यन्त विरल है, तथापि वह प्रयोग गौण है मुख्य नहीं। ईश्वरवाची भगवः शब्द के अर्थ होंगे—'उत्पत्तिस्थितिसंहारकारी' 'कर्मफलप्रदाता' 'सर्वाधार' 'भूतात्मा' आदि।

(ग) इसी पुराण में यह भी लिखा है—

यत्तदव्यक्तमजिरमचिन्त्यमजस्रमव्ययम्।
अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम्॥
विभुं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिरकारणम्।
श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्॥

तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः।
वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः॥
(वि० पु० ६.५. ६६-६९)

आशय यह कि इस प्रकार के श्रुतिप्रतिपादित परमात्मा के स्वरूप का नाम भगवान् है।

४—शैव शास्त्रों में लिखा है—

भं वृद्धिं गच्छतीत्यर्थात् भगः प्रकृतिरुच्यते।
मुख्यो भगस्तु प्रकृतिः भगवान् शिव उच्यते॥

तत्र निर्वचन का स्वरूप होगा **'भगः प्रकृतिरस्त्यस्याधिष्ठेयतया स भगवान्'** अर्थात् प्रकृति के अधिष्ठाता = प्रेरक होने से परमात्मा को 'भगवान्' कहते हैं।

भगवान् शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में भगवान् शब्द परमात्मा का वाचक है—

भग एव भगवानस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह॥
(ऋ० ७-४१-५)

हमारे लिए, **भगवान् एव** = सर्वैश्वर्य सम्पन्न होने से तथा सबके सम्भजन योग्य होने से भगवान् नाम से प्रसिद्ध परमेश्वर ही **भगः अस्तु** = पूजनीय हों। **तेन** = आपकी कृपा से **वयं भगवन्तः स्याम** = हम भी ज्ञान ऐश्वर्य आदि विभूति सम्पन्न हों। हे **भग** = ऐश्वर्यस्वरूप भगवन् **तं त्वा** = उन सकल जगत् प्रसिद्ध आपको **सर्व इज्जोहवीति** = सबही अपनी अपनी इष्ट सिद्धि के लिए पुकारा करते हैं। हे **भग** = हे सम्पूर्ण ऐश्वर्य के प्रदाता परमात्मन् **स त्वं नः इह** = वे आप हमारे इन सब लौकिक वैदिक कर्मों में **पुरः आ एत** = अग्रगामी हूजिए।

आशय यह कि सकलैश्वर्य सम्पन्न भगवान् का स्मरण प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में करना चाहिये। वे ही सम्पूर्ण ऐश्वर्य के प्रदाता तथा तेज बल बुद्धि

के निदान हैं। उन्हीं की उपासना से हमें ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति हो सकती।

भगवते नमः

इति गुणवाचकशब्देषु लोकेऽपि संज्ञारूपेण
प्रयुक्तगुणवाचकशब्दाख्यः द्वितीयः खण्डः।

इत्यवशिष्टनामाख्ये पञ्चमे प्रकरणे
गुणवाचक—शब्दानां
ब्रह्मत्वनिरूपणपरः
चतुर्थो वर्गः

वर्ग ४ — नाम संख्या १८
पूर्वागत ३०
पूर्ण संख्या ४८

पञ्चम वर्ग

अग्रिम पंचम वर्ग 'साम्प्रदायिक ईश्वरवाचक' शब्दों का है जिसके द्वारा भिन्न भिन्न सम्प्रदायवाले अपने अपने उपास्य देव का कीर्तन स्मरण किया करते हैं। भारत के दुर्भाग्यवश यहाँ पर अनेक सम्प्रदाय फैले हुए हैं। जैसे भारत के भौतिक शरीर पर रेलों का जाल बिछा है, वैसे ही उसके आत्मिक शरीर पर सम्प्रदायों का जाल बिछा है। इन सम्प्रदायों के भिन्न भिन्न उपास्य देव हैं। वैष्णवों के उपास्य देवों में प्रधान नारायण तथा श्री हैं।'श्री का ही दूसरा नाम लक्ष्मी है। शैवों के उपास्य देव शंकर या महादेव हैं। शाक्तों की मुख्य देवता शक्ति है। इसी को देवी भी कहते हैं। देवी भागवत में इसी देवी का माहात्म्य प्रगीत है, तथा श्रीमद्भागवत में नारायणावतार श्रीकृष्ण का। इन दोनों भागवतों में से किसकी गिनती पुराणों में और किसकी उपपुराणों में है तथा किस का कितना प्रामाण्य है, इस विषय पर दोनों पक्षों के दिग्गजों ने अनेक ग्रन्थ लिखकर अपनी अपनी सम्मति प्रकट की है। जिनको अधिक जानकारी की इच्छा हो वे उन्हें पढ़कर अपने रिक्त समय को सार्थक कर सकते हैं। श्री महाराज ने इन्हीं तीन मुख्य तथा भारत की जनता के अधिकांश भाग में प्रसिद्ध सम्प्रदायों के देवों के नामों का उपादान करके यह बताया है

कि ये सब नाम भी वास्तव में परमेश्वर के ही हैं न कि किसी अन्य देवी देवता के, क्योंकि परमेश्वर को छोड़कर उस प्रकार के अन्य किसी देवी या देवता की सत्ता ही नहीं है। वे नाम यह है—

नारायण	शंकर	महादेव
देवी	शक्ति	लक्ष्मी
	श्री	

नारायण

१—इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

(क) नारायण भी नाम परमेश्वर का है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

यह श्लोक मनुस्मृति का है। आप नाम जल का है और नार संज्ञा भी जल की है और वे प्राण जल संज्ञक हैं वे सब प्राण जिसका अपना निवास स्थान है इससे परमेश्वर का नाम नारायण है। (स. प्र. प्र. सं. पृ० १३)

(ख) आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

जल और जीवों का नाम नार है वे अयन अर्थात् निवास स्थान हैं इसीलिये सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम नारायण है।

श्री महाराज का आशय यह है कि स्थावर जंगम में व्यापक होने से भगवान् नारायण कहाते हैं।

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैतानुसारी भाष्य में निम्न निर्वचन किये हैं—

(i) नरः आत्मा ततो जातान्याकाशादीनि नाराणि कार्याणि, तानि अयं कारणात्मना व्याप्नोति अतश्च तान्ययनमस्येति' अर्थात् सम्पूर्ण कार्य जगत् को कारणात्मना व्याप्त करने से भगवान् का नाम नारायण है।

(ii) नराणां जीवानामयनत्वात् प्रलये नारायणः। प्रलय काल में सब जीवों का निवास स्थान होने से भगवान् नारायण कहाते हैं। इस निर्वचन

के मूल में 'नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः' (म० भार० ७०-१०) यह भारत वाक्य निहित है।

(ख) निर्वचन नामक व्याख्यान में लिखा है—

(i) नराः स्वरूपप्रवाहनित्यवस्तूनि तेषां समूह नाराः, ते अयनम् श्रौतनिरुक्तानुसारात् आश्रयो यस्य तेषामयनमिति वा'। आशय यह कि कुछ वस्तुएँ स्वरूप नित्य हैं जीवादि, कुछ प्रवाह नित्य हैं सृष्टि आदि; इनका समूह जिसके आश्रित है तथा उस समूह में जो व्यापक है वे भगवान् 'नारायण' कहे जाते हैं।

(ii) नारा अनश्वरविभूतिका मुक्तात्मानः, तेषामयनं नारायणः, 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य'। अर्थात् मुक्तात्मा जिसमें विचरण करते रहते हैं इसलिये भगवान् नारायण कहाते हैं।

३—सन्ध्याभाष्यसमुच्चय में इस शब्द के निर्वचन निम्न किये गये हैं—

(i) आरा दोषास्तद् विरुद्धा गुणा नारास्तेषामयनमिति दोषविरुद्ध-गुणाश्रयत्वात्। अर्थात् सर्व सद्गुणों का आकर होने से भगवान् नारायण कहाते हैं।

(ii) आराणां दोषाणामयनं न भवतीति दोषाश्रयो न भवति दोष-गन्धविधुर इति। अर्थात् दोष सम्पर्क शून्य होने से भगवान् नारायण कहाते हैं।

(iii) दोषरहिता वेदा नाराः प्रतिपाद्यतया तदयनत्वात् सदागमैकविज्ञेयत्वात्, वेदप्रतिपाद्यत्वाद्वा। आशय यह कि केवल आगम द्वारा ही भगवान् का प्रतिपादन और ज्ञान हो सकता है इसलिये प्रतिपाद्यत्वेन ज्ञेयत्वेन वा तदाश्रित होने से भगवान् नारायण कहाते हैं।

४—श्रीमध्वाचार्य कहते हैं—

न यज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः।
तेषामयनभूतो यः स नारायण इति स्मृतः॥

अर्थात् सब तत्त्वों का आधार होने से भगवान् नारायण कहाते हैं।

५—भानुजी दीक्षित निम्न निर्वचन करते हैं—

नराणां समूहो नारं तदयनं यस्य नारायणः।
नराज्जाता नारा आपः तत्त्वानि वा अयनं यस्य नारायणः।
नारम् अयते जानाति आपयति प्रवर्तयति वा।

अर्थात् तत्त्वों को रचना समय में संयोग के लिये तथा प्रलयकाल में विभाग के लिये प्रेरित करने से भगवान् नारायण कहाते हैं।

६—निम्न भी निर्वचन हो सकते हैं—

(i) नारैः अहिंसकैः ईयते अय्यते प्राप्यते वा नारायणः। आशय रागद्वेष शून्य सदाचारी विद्वान् ही जिसको पा सकते हैं इसलिये भगवान् नारायण कहाते हैं।

(ii) आराः कष्टाः, नाराः सुखानि, तदयनत्वात् नारायणः। परमानन्द का आश्रय होने से भगवान् नारायण कहाते हैं।

नारायण शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

नारायणाय नमः

शंकर

इस शब्द के विषय में श्रीमहाराज ने दो व्यवस्थायें दी हैं एक 'शिवशङ्कर' शब्द को एक ही नाम मानने विषयक। दूसरी शिव और शंकर को पृथक् पृथक् नाम विषयक, हैं दोनों ही ठीक क्योंकि शब्द का व्यवहार दोनों प्रकार का है। इनमें से 'शिव' शब्द के विषय में पहले लिखा जा चुका है। शंकर शब्द के विषय में श्री महाराज लिखते हैं—

१—डुकृञ् करणे 'शम्' पूर्वक इस धातु से शंकर शब्द सिद्ध हुआ है 'यः शं कल्याणं सुखं करोति स शङ्करः' जो कल्याण सुख का करने हारा है इससे उस ईश्वर का नाम शंकर है। (स. प्र. पृ. १२ स्तं. २)।

अर्थात् सुखप्रदाता होने से भगवान् शंकर है।

२—इसी तत्त्व का समर्थक एक श्लोक स्कन्द पुराण में भी आता है—

शं करोमि सदाध्यानात् परमं यन्निरामयम्।
भूतानामसकृत् यस्माद् तेनाहं शंकरः स्मृतः॥

अर्थात् मैं ध्याताओं का परम कल्याण करता हूँ, अतः शङ्कर हूँ।

३—नीलकण्ठ इस शब्द का निर्वचन करते हैं—

शङ्कानां समूहः शङ्कम् तस्य रः प्रदाहकः सर्वसंशयप्रदाहकः। सब प्रकार के संशयों के दाहक होने से भगवान् शङ्कर हैं। इसका मूल है **'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः'** (मुण्डक २-२-८) यह मुण्डक वचन।

शंकर शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर शंकर शब्द भगवान् का वाचक है—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च
नमः शिवाय च शिवतराय च। यजु. १६-४१।

शम्भवाय = कल्याणस्वरूप भगवान् को **नमः** = नमस्कार हो, **मयोभवाय** = सुख स्वरूप भगवान् को **नमः** = नमस्कार हो, **शंकराय** = कल्याणकारी तथा सर्वसंशय प्रदाहक होने से शंकर नामधारी भगवान् को **नमः** = नमस्कार हो, **शिवाय** = निष्पाप तथा **शिवतराय** = निष्पापों को तारने वाले भगवान् को **नमः** = नमस्कार हो।

आशय यह कि ऐहलौकिक तथा पारलौकिक अर्थात् अभ्युदय तथा मोक्ष के प्रदाता भगवान् को हमारा नमस्कार हो, तथा वे हमें दोनों प्रकार के सुख तथा शान्ति दें।

शंकराय नमः

महादेव

महादेव शब्द के विषय में श्री महाराज लिखते हैं—

१—(क) महत् शब्द पूर्वक देव शब्द से महादेव शब्द सिद्ध होता है। 'यो महतां देवः स महादेवः' जो महान् देवों का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान् सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है इसलिये परमात्माका नाम महादेव है। स० प्र. पृ. १२ स्तं. २।

(ख) अन्यत्र भी 'अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः' का अर्थ करते हुए लिखा है—

'देवों का देव महादेव परमात्मा है' (स. प्र. पृ. २२० स्तं. २)।

आशय यह कि प्रकाशकों के भी प्रकाशक तथा पूज्यों के भी पूज्य होने से भगवान् महादेव कहाते हैं।

आक्षेप और समाधान

इस पर आक्षेप यह है कि **'महतां देवः'** ऐसा विग्रह करके षष्ठी समास मानने पर सामानाधिकरण्य न रहने से **'आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः'** (६-३-४६) सूत्र से आत्त्व न होगा। इस प्रकार प्रयोग महद्देव बनेगा न कि महादेव, अतः महादेव का उक्त विग्रह ठीक नहीं।

इसका **प्रथम** उत्तर तो यह है कि यह विग्रह वाक्य नहीं है, अपितु अर्थ की ओर निर्देश मात्र है और वह भी ऐसा जिसमें प्राचीनाचार्य सम्मत अर्थ भी अवभासित हो सकें। विग्रह का रूप है **'महतां देवानां मध्येऽपि महान्, स चासौ देवः महादेवः'**। महाभारत में बताया गया है **'देवानां सुमहान् यश्च'** (महाभारत अनु. १६१.८)।

दूसरा उत्तर यह है कि पूर्वाचार्य भी इस प्रकार का समास मान कर भी ऐसा पद बना चुके हैं। अव्यक्तोपनिषत् में महाविष्णु शब्द का विग्रह करते हुए लिखा है—**'महाविष्णुमित्याह, महतां वा अयम्, महान् रोदसी व्याप्य स्थितः'** (अव्यक्त. २)। यहां स्पष्ट है कि उपनिषत्कार को महाविष्णु शब्द में **'महतां व्यापकानामपि विष्णुः व्यापकः महाविष्णुः'** यह विग्रह अभीष्ट है। इसी प्राचीन शैली का अनुसरण करके महाराज ने भी वैसा विग्रह किया है, क्योंकि महाराज तो प्राचीनता के उपासक हैं ही।[1]

---

१. 'महत्याः घासः महाघासः, महत्याः करः महाकरः' यहां षष्ठी समास में भी आत्त्व और पुंवद्भाव देखा जाता है अतएव वार्तिककार को इन दोनों का उपसंख्यान करना पड़ा। तत्सदृश 'महतां देवः' में भी आत्त्व हो सकता है। हमारे विचार में तो आकारान्त महा और तकारान्त महत् ये दो स्वतन्त्र शब्द हैं। किसका कहाँ पर प्रयोग होता है इसी का निर्देश सूत्रकार ने आत्त्वविधि के रूप में दर्शाया है। आकारान्त महा शब्द का प्रयोग वेद में बहुधा मिलता है। साथ ही समानाधिकरण समास में भी आत्त्व नहीं देखा जाता। यथा 'महदावासाः' (रामा० १।१३।१२) 'सुमहत्पर्वतोपमान्' (रामा० १।४०।८)। श्री स्वामी वेदानन्द जी ने उक्त दोष का निवारण करने के लिए 'महतां देवानां देवः' पाठ कल्पित किया। परन्तु उसमें भी 'न निर्धारणे' (२।२।१०) नियम से समास

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैतानुसारी भाष्य में लिखा है 'सर्वान् भावान् परित्यज्य आत्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते तस्मादुच्यते महादेवः'। अर्थात् आत्मज्ञान योगादि ऐश्वर्य रूपी महत्त्व के कारण भगवान् महादेव कहाते हैं।

(ख) दूसरे भाष्यकार श्री रंगनाथ लिखते हैं 'तैः क्रीडनकैः कन्दुकादिभिरिव क्रीडतीति महादेवः'। इस लेख से प्रतीत होता है कि निर्वचन का स्वरूप होगा 'महद्भिर्दीव्यतीति महादेवः'। यहां महान् के साथ क्रीडन, अनायास उनकी उपत्ति स्थिति लय ही है, जैसा कि कहा भी है 'क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः'।

(ग) वरदाचार्य लिखते हैं 'महान् = अभ्यधिकः पूज्यो वा, स चासौ देवः' आशय यह कि बड़े बड़े कार्य जिनकी क्रीड़ा है, तथा जो परम पूजनीय हैं इसलिये भगवान् महादेव कहाते हैं।

३—महाभारतकार कहते हैं

देवानां सुमहान् यच्च यच्चास्य विषयो महान्।
यच्च विश्वं महत् पाति महादेवस्ततः स्मृतः॥

(महाभारत अनु. १६१–८)

तब निर्वचन होगा 'देवानां महान्' 'महान् देवः विषयो यस्य' 'महत् = विश्वं दीव्यति पातीति महादेवः।

४—साम्ब पुराण में एक श्लोक आता है—

पूज्यते यः सुरैः सर्वैर्महाँश्चैव प्रमाणतः।
महेति धातुः पूजायां महादेवस्ततः स्मृतः॥

निर्वचन का स्वरूप होगा 'देवैर्महीयते इति महादेवः'।

५—वायु पुराण में लिखा है—

सर्वान् देवान् ऋषींश्चैव समेतानसुरैः सह।
अत्येति तेजसा देवो महादेवस्तः स्मृतः॥ वायु. १०.६.

तब विग्रह का स्वरूप होगा 'महसा अत्येति देवादीन् इति महादेवः'।

प्रतिषेध रूप नया दोष उपस्थित हो गया। इस विषय में अधिक विचार के लिए हमारा 'ऋषि दयानन्द की पद प्रयोग शैली' ग्रन्थ पृष्ठ ५२, ५३ देखना चाहिए। सम्पा०।

६—भानुजी दीक्षित कहते हैं—

'महान् देवः क्रीडादिर्यस्य स महादेवः'

७—'महांश्चासौ देवः महादेवः' यहां देव में महत्त्व होगा सर्व पूज्य होना।

महादेव का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर महादेव शब्द भगवान् का वाचक है—

चिज्जडानां तु यो द्रष्टा सोऽच्युतो ज्ञानविग्रहः।
स एव हि महादेवः स एव हि महाहरिः॥ नृसिंह-उ०।

यो = जो चिज्जडानां द्रष्टा = चेतनाचेतनों के द्रष्टा, ज्ञाता, साक्षी हैं उपनिषत् कहती है 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृह० ३.७.२३) 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० ६-११) अर्थात् वे ही परम द्रष्टा साक्षी चैतन्य-स्वरूप तथा निर्गुण हैं। स ज्ञानविग्रहः = वही ज्ञानस्वरूप तथा अच्युतः = अधिकारी हैं स हि महाहरिः = वे ही सम्पूर्ण कष्टों को निवृत्त करने वाले एवं प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् का संहार करने वाले हैं और स हि महादेवः = बड़ों से भी बड़े होने से, सर्वपूज्य होने से, इस महान् विश्व के देव अर्थात् पालक होने से, विशाल जगत् का निर्माण जिनकी क्रीड़ा मात्र है, अतः वे महादेव कहाते हैं।

महादेवाय नमः

देवी

१—इस शब्द के बारे में श्री महाराज लिखते हैं—

(क) जितने देव शब्द के अर्थ हैं,[१] वे ही देवी शब्द के जान लेना चाहिये। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १८)

(ख) जितने देव शब्द के अर्थ हैं उतने ही देवी के भी हैं। परमेश्वर के तीनों लिङ्गों में नाम हैं जैसे 'ब्रह्म, चितिः ईश्वरः चेति' जब ईश्वर का विशेषण तब देव, जब चिति का होगा तब देवी, इससे ईश्वर का नाम देवी है। (स० प्र० पृ० ११ स्तं० १)

---

१. इसके लिए देखिए इसी ग्रन्थ में 'देव' पद का व्याख्यान। सम्पा०।

आशय यह कि भगवान् तो **'नैव स्त्री न पुमानेषः'** (श्वेता० ५०-१९) न तो स्त्री है न पुरुष; यह तो अपनी अपनी भावना है। जब पुल्लिंग की भावना या विवक्षा होती है तब देव कहाते हैं, स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा होने पर वेही देवी हैं। शास्त्रों में भी तो तीनों लिङ्गों में उनके नाम विशेषण तथा सम्बोधन उपलब्ध होते हैं।

देवी शब्द का भगवच्छक्ति अर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में देवी शब्द भगवान् का वाचक है—

समख्ये देव्या धिया दक्षिणयोरुचक्षसा।
मा न आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव वीरं विदेयम्
तव देवि सन्दृशि। (यजु० ४० २३)

हे **देवि** = सर्वगता प्रकाशस्वरूपिणी भगवती **त्वम्** = आप **दक्षिणया** = उत्साह तथा चातुर्यसम्पन्न, **उरुचक्षसा** = बहुदर्शिनी **देव्या** = श्रेष्ठ **धिया** = धारणात्मक बुद्धि से **समख्ये** = भली प्रकार जानी जाती हो। उपनिषत् कहती है **'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'** (कठ १०-३०-१२) हे **देवि अहम्** = मैं **तव सन्दृशि** = आपकी देख रेख में **वीरम्** = पुरुषार्थ को या ज्ञान को **विदेयम्** = प्राप्त कर सकूं **त्वम्** = आप **नः आयुः** = हमारे आयुष्य को **मा प्रमोषीः** = क्षीण मत करिये।

आशय यह कि—आपका दर्शन करने के लिए परिपक्व तथा सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है और यह बुद्धि आपही की कृपा से प्राप्त होती है। भक्त कहता है कि मेरी इच्छा है कि मैं भी ऐसी बुद्धि पा सकूँ।

देव्यै नमः

शक्ति

१—इस पर श्री महाराज ने लिखा है—

(क) शक्लृ शक्तौ 'शक्नोति यया सा शक्तिः' जो सब पदार्थों को रचने का सामर्थ्य जिसमें है इससे परमेश्वर का नाम शक्ति है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १८)

(ख) शक्लृ शक्तौ इस धातु से शक्ति शब्द बनता है 'यः सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः' जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है इसलिए परमेश्वर का नाम शक्ति है । (स० प्र० पृ० ११ स्तं० १)

प्रथम निर्वचन में 'शक्ति' उस सामर्थ्य का नाम है, जिससे भगवान् सृष्टि करते हैं और वह सामर्थ्य उनमें है, इसलिए वे शक्ति कहाते हैं । द्वितीय निर्वचन में क्तिन्[1] प्रत्यय कर्ता में है ।

शक्ति शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थान पर शक्ति शब्द भगवान् का वाचक है—

देवी ह्येकाग्र आसीत् सैव जगदसृजत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजम् , यत्किञ्चैतत् प्राणिस्थावरजङ्गमात्मं मनुष्यमजीजनत्। सैषा परा शक्तिः । बह्वृचोपनिषत् ।

देवी = दिव्य शक्ति प्रदान करने वाली भगवती सर्वप्रथम विद्यमान थी उन्होंने ही यह सम्पूर्ण अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज स्थावर जङ्गमात्मक मनुष्यादि सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न किया । इन्हीं देवी भगवती को 'शक्ति' भी कहते हैं क्योंकि इस सम्पूर्ण जगत् के निर्माण का सामर्थ्य उनमें है ।

शक्त्यै नमः

लक्ष्मी

१—इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

(क) लक्ष दर्शनाङ्कनयोः इससे लक्ष्मी शब्द सिद्ध होता है 'लक्षयति नाम दर्शयति चराचरं जगत् सा लक्ष्मीः' जो सब जगत् को उत्पन्न करके देखावे उसका नाम लक्ष्मी है । 'अङ्कयति चिह्नयति वा चराचरं जगत् सा लक्ष्मीः' जो सब जगत् के चिह्नों को अर्थात् नेत्र नासादिक और पुष्प पत्र मूलादिक एक से एक विलक्षण जितने चिह्न हैं उनके

---

१. आशीः अर्थ के परित्याग पूर्वक 'क्तिच्' (३।३।१७४) प्रत्यय भी माना जा सकता है । पूर्वत्र 'कृत्ल्युटो बहुलम्' (३।३।११३ वा०) नियम से कर्ता अर्थ में क्तिन् होगा, उत्तरत्र विना आशीः अर्थ के संज्ञा में क्तिच् । सम्पा० ।

रचने और प्रकाशक होने से परमेश्वर का नाम लक्ष्मी है। 'लक्ष्यते वेदादिभिः शास्त्रैः ज्ञानिभिश्च सापि लक्ष्मीः' वेदादिकशास्त्र और ज्ञानियों का लक्ष्य नाम दर्शन के योग्य होने से परमेश्वर का नाम लक्ष्मी है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १८)

(ख) यो लक्षयति पश्यत्यङ्कते विह्नयति चराचरं जगदथवा वेदैराप्तै-र्योगिभिश्च यो लक्ष्यते सा लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः' जो चराचर को देखता चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता जैसे शरीर के नेत्र नासिका और वृक्ष के पत्र पुष्प फल मूल पृथिवी जल के कृष्ण रक्त श्वेत मृत्तिका पाषाण चन्द्र सूर्यादि चिह्न बनाता तथा सब को देखता सब शोभाओं की शोभा और जो वेदादिशास्त्र व धार्मिक विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम लक्ष्मी है। (स० प्र० पृ० ११ स्तं० १)।

(ग) 'लक्षेर्मुट् च' इस औणादिक सूत्र (३।१४०) की व्याख्या करते हुए महाराज ने 'लक्षयति पश्यत्यङ्कयति वा सा लक्ष्मी' ऐसा लिखा है। यह लेख लोक तथा परमेश्वर दोनों दृष्टियों से लिखा गया है।

लक्ष धातु के अर्थ हैं दर्शन अंकन तथा आलोचन। ये सभी अर्थ परमेश्वर में संगत होते हैं। वह द्रष्टा है, विज्ञाता है। उपनिषत् कहती है 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृह० ३-६-२३)।

अर्थात् वास्तविक द्रष्टा और विज्ञाता वे ही हैं। वे आलोचक हैं। उपनिषद् वाक्य है 'स ऐक्षत इमाँल्लोकान्नु सृजा इति'(ऐत० १-१-१) अर्थात् उन्होंने ईक्षण = आलोचन किया, इन लोकों की रचना की जाय। अंकन का अर्थ है चिह्नित करना इस जगत् के प्रत्येक पदार्थ में भगवान् ने उसका व्यक्तित्व निहित किया है। इसी प्रकार भगवान् का दर्शन करना ही परम पुरुषार्थ है। श्रुति कहती है 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (यजु. ३१-१८) उनका आलोचना करना ही मुख्य कर्तव्य है, वे जगत् में अपना एक विशेष व्यक्तित्व भी रखते हैं। ऐसी दशा में उन्हें लक्ष्मी कहना सर्वथा संगत है।

२—वैयाकरण लक्ष्मी शब्द के निम्न निर्वचन करते हैं—

(क) लक्षयति पश्यति नीतिज्ञमिति लक्ष्मी। आशय यह कि लक्ष्मी या ऐश्वर्य नीतिज्ञों के पास ही रहा करता है।

(ख) लक्ष्यति जनान् यया, वा लक्ष्यते जनैर्यया सा लक्ष्मीः। जिसके द्वारा मनुष्य लक्षित होता है उसकी प्रतिष्ठा होती है उसे लक्ष्मी कहते हैं। है भी ठीक—'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।

यही निर्वचन भगवान् पर भी संगत हो सकते हैं। लक्ष्मीपति तो वे हैं ही, क्योंकि वे परमेश्वर हैं, ऐश्वर्य की पराकाष्ठा उन्हीं में है। अपने ऐश्वर्य के कारण सभी उनका मुख ताकते हैं। कोई ज्ञान मांगता है, कोई आनन्द। इस प्रकार वे सबसे लक्षित हो ही रहे हैं। अतः भगवान् ही लक्ष्मी हैं।

३—यास्क ने लक्ष्मी शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—

लक्ष्मीर्लाभाद् वा लक्षणाद् वा लप्स्यमानाद् वा लाञ्छनाद् वा लषतेर्वा स्यात् प्रेप्सा कर्मणो लम्बतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो लज्जतेर्वा स्याद-श्लाघाकर्मण: (४।१०)। ये निर्वचन लौकिक लक्ष्मी = सम्पत्ति को दृष्टि में रख कर किए हैं। तथापि अनेक निर्वचन भगवान् में भी संबद्ध हो जाते हैं।

लक्ष्मी शब्द का परमात्म-परक प्रयोग—निम्न स्थल पर लक्ष्मी शब्द भगवान् का वाचक है—

महालक्ष्म्यै च विद्महे विष्णुपत्न्यै च धीमहि।
तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात्। ऋक्परि. सू. ११-२६।[१]

लक्ष्मीः = स्वयं लक्षित होने से तथा सबका लक्षक होने से 'लक्ष्मी' नाम-धारी भगवान् नः = हमको प्रचोदयात् = प्रेरित करें। जिससे हम महा-लक्ष्यै विद्महे = परमैश्वर्य प्राप्ति के साधनों को जानें तथा विष्णुपत्न्यै च धीमहि = व्यापक जगत् के पालक भगवान् का हम ध्यान करें।

लक्ष्म्यै नमः

श्री

१—इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

(क) श्रिञ् सेवायाम् इस धातु से श्री शब्द सिद्ध होता है 'यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः' जिसका

---

१. यहाँ ध्यान रहे कि ऋषि दयानन्द ने जिस लक्ष्मी सूक्त को उद्धृत किया है (द्र० सं० १९३२ में प्रकाशित सभाष्य सन्ध्योपासनादि पञ्च-

सेवन सब जगत् विद्वान् और योगिजन करते हैं इससे परमात्मा का नाम श्री है। (स. प्र. पृ. ११ स्तं. १)।

२—'क्विब् वचिप्रच्छि' आदि उणादि सूत्र (२।५७) की व्याख्या करते हुए लिखा है 'श्रयति श्रीयते वा सा श्रीः'। यह निर्वचन भगवान् तथा शोभा सम्पत्ति आदि सभी पर समान रूप से संगत होता है।

२—अहिर्बुध्न्यसंहिता में श्री का निर्वचन तीन विभिन्न धातुओं से किया गया है। वहाँ का लेख है—

> शृणाति निखिलान् दोषान् श्रीणाति च गुणैर्जगत्।
> श्रीयते चाखिलैर्नित्यं श्रयते च परं पदम्॥

श्री शब्द से आशय उससे है जो दोषों का निराकरण करे, जगत् में गुणों का परिपाक करे, सबके द्वारा आश्रयणीय हो तथा परम पद का आश्रयभूत हो।

ऐसे भगवान् ही हैं, वे भक्तों के दोष तथा दुर्गुणों की निवृत्ति करते हैं, जगत् में गुणों का परिपाक करते हैं तथा सब उन्हीं का आश्रय लेते हैं,

श्री शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर श्री शब्द भगवान् का वाचक है—

> अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम्।
> श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम्॥

ऋक्परि. ११-३

मैं **देवीं** = दिव्यरूप **श्रियम्** = सर्वैश्वर्य प्रदाता सर्वाश्रयणीय भगवान् को **उपह्वये** = पुकारता हूँ। वे कैसे हैं **अश्वपूर्वां, रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम्** = जिनकी कृपा होने पर अश्व, रथ, हस्ति आदि सर्व लौकिक भोग

महायज्ञविधि के अन्त में) उसके केवल १६ मन्त्रों की ही व्याख्या की है। सोलहवें मन्त्र का उत्तरार्ध इस प्रकार है—'श्रियः पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत्।' इससे स्पष्ट है कि मूल श्रीसूक्त वा लक्ष्मी सूक्त में पन्द्रह ऋचाएं ही थीं। अत एव ऋषि दयानन्द ने उतने अंश का ही व्याख्यान किया। अगले १७ से २९ तक के १३ श्लोक १६ वें के समान ही श्रीसूक्त के जपादि के बोधक हैं। हमारे विचार में १६ से २९ तक के श्लोक औत्तरकालिक हैं। सम्पा०।

प्राप्त होते हैं। देवी श्री = दिव्य गुण युक्त वह लक्ष्मी नामधारी भगवान् मा जुषताम् = मेरे प्रति प्रीति सम्पन्न हों।

श्रियै नमः

इत्यवशिष्टनामाख्ये पञ्चमे प्रकरणे
साम्प्रदायिकेश्वरवाचकशब्दानाम्
ईश्वरपरत्वनिरूपणपरः
पञ्चमो वर्गः

वर्ग ५ — नामसंख्या ७
पूर्वागत ४८
पूर्णसंख्या ५५

छठा वर्ग

यह अग्रिम छठा वर्ग 'पौराणिक देवता विशेष वाचक' शब्दों का है। कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनका उपयोग पुराणों में देवता विशेष की दृष्टि से किया गया है। अर्थात् वह शब्द देवता विशेष का नाम माना गया है। पौराणिक दृष्टि से अनेक चेतन पुरुषविध देवता हैं तथा अचेतन पदार्थों के अधिष्ठातृ देवता हैं। जैसे जल का वरुण, वर्षा का इन्द्र आदि। महाराज का कथन है कि ये सब शब्द वास्तव में एक देव भगवान् के ही वाचक हैं, उन्हीं के नाम हैं। उनके विशेष गुण या विशेष कार्य की दृष्टि से उनके ये विभिन्न नाम पड़े हैं। जैसे एकही व्यक्ति विभिन्न कार्य करने पर पाचक, पाठक तथा अध्यापक कहाता है अथवा विभिन्न गुणों के कारण मुण्ड, जटिल, एवं शिखी कहाता है। निरुक्त-कारने भी यही बात सातवें अध्याय के पाँचवें खण्ड में कही है।[१] पीछे जाकर भगवान् की वे शक्तियाँ जब भिन्न भिन्न देवता बन गईं तो वे ही शब्द उन देवताओं के नाम बन गये और इस प्रकार इस नामावलि की सृष्टि हुई। ये शब्द निम्न हैं—

देव	कुबेर	गणपति	शेष
अज	वसु	धर्मराज	काल

सरस्वती

देव

१—श्री महाराज ने इस शब्द का दिवु धातु के प्रत्यर्थ को दृष्टि में रखकर व्याख्यान किया है। आप लिखते हैं—

(क) दिवु क्रीडा[१] विजिगीषा[२] व्यवहार[३] द्युति[४] स्तुति[५] मोद[६] मद[७] स्वप्न[८] कान्ति[९] गतिषु'[१०] इस धातु से देव शब्द की सिद्धि होती है 'दीव्यति स देवः' दीव्यति नाम जो स्वयं प्रकाश स्वरूप होय और जो सब जगत् को प्रकाशकर्ता है। इससे परमेश्वर का नाम देव है। 'क्रीडते स देवः' क्रीडते नाम अपने आनन्द से अपने स्वरूप में आप ही जो क्रीडा को करै अथवा क्रीडामात्र से अन्य की सहायता के विना जगत् को क्रीडा की नाईं जो रचे व सब जगत् के क्रीडाओं का आधार जो होय इससे परमेश्वर का नाम देव हैं। 'विजिगीषते स देवः' विजिगीषते नाम सबका जीतने वाला और आप सदा अजेय है जिसको कोई भी न जीत सके इससे ईश्वर का नाम देव है। व्यवहार-यति स देवः' व्यवहारयति नाम न्याय और अन्याय 'व्यवहारों का जो ज्ञापक नाम उपदेष्टा और सब व्यवहारों का जो आधार भी है इससे परमेश्वर का नाम देव है। 'द्योतयति स देवः' द्योतयति नाम सब प्रकाशों का आधार जो अधिकरण है इससे परमेश्वर का नाम देव है। 'स्तूयते स देवः' स्तूयते नाम सब लोगों के स्तुति करने योग्य होय और निन्दा के योग्य कभी न होय इससे परमेश्वर का नाम देव है। 'मोदयति स देवः' मोदयति नाम आप तो आनन्द स्वरूप ही है औरों को भी आनन्द करावे जिसको दुःख का लेश कभी न होय इससे भी परमेश्वर का नाम देव है। 'माद्यति स देवः' माद्यति नाम आप तो हर्ष स्वरूप होय जिसको शोक का लेश कभी न होय इससे भी परमेश्वर का नाम देव है। 'स्वापयति स देवः' स्वापयति नाम प्रलय में सभों को शयन अव्यक्त में जो करावे इससे परमेश्वर का नाम देव है। 'गच्छति गम्यते वा स देवः' गच्छति गम्यते नाम जो सभों में गत नाम प्राप्त होय जानने योग्य होय उसको कहते हैं देव। देव नाम परमेश्वर का है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० ११)

(ख) दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्न-कान्तिगतिषु' इस धातु से देव शब्द सिद्ध होता है। क्रीडा जो शुद्ध जगत् को क्रीडा कराने, विजिगीषा धार्मिकों को जिताने की इच्छा-

---

१. तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात् यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः। निरुक्त ७।५॥

युक्त, **व्यवहार** सब चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता, **द्युति** स्वयं-प्रकाशस्वरूप सबका प्रकाशक, **स्तुति** प्रशंसा के योग्य, **मोद** आप आनन्द स्वरूप और दूसरों को आनन्द देने वाला, **मद** मदोन्मत्तों का ताड़ने हारा, **स्वप्न** सबके शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करने हारा, **कान्ति** कामना के योग्य और **गति** ज्ञान स्वरूप है इसलिए उस परमेश्वर का नाम देव है। (स० प्र० पृ० ७ स्तं० २)

इसके आगे श्री महाराज ने प्रथम संस्करण लिखित अर्थों को पुनः दुहराया है। आशय सर्वांश में वही है। हां, शब्दों में कुछ हेर फेर अवश्य हो गया है।

२—निरुक्तकार ने प्रसंग से देव शब्द का निर्वचन किया है। वे लिखते हैं—'**देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युः स्थानो भवतीति वा**' (निरु० ७-१५)।

इसका आशय यह कि देव शब्द डुदाञ् दाने, दीपी दीप्तौ तथा द्युत दीप्तौ इन धातुओं से बनता है। क्योंकि देव ऐश्वर्य के प्रदाता हैं, तेजोमय होने से प्रदीप्त हैं, अतएव दूसरों के प्रकाशक हैं। निरुक्तकार दिवु धातु से देव शब्द नहीं बनाते। किन्तु अन्य वैयाकरण 'दीव्यतीति देवः' निर्वचन करके दिवु धातु से ही देव शब्द की रचना स्वीकार करते हैं।

३—विष्णुसहस्रनाम के—

शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में देव शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—'**यतो दीव्यति क्रीडति सर्गादिभिः, विजिगीषतेऽसुरादीन्, व्यवहरति सर्वभूतेषु, आत्मतया द्योतते, स्तूयते स्तुत्यैः, सर्वत्र गच्छति तस्मात् देवः**' इस निर्वचन में मोद मद स्वप्न और कान्ति को छोड़कर दिवु धातु के शेष ६ अर्थों का संग्रह किया गया है। आशय वही कि संसार की उत्पत्ति लय जिनकी क्रीडा है, दुष्टों का दमन करनेवाले हैं, सर्वव्यवहार के उपदेष्टा हैं, स्वयप्रकाश हैं, उपासक उनकी स्तुति करते हैं तथा वे सर्वत्र गत अर्थात् व्यापक हैं, इसीलिये भगवान् देव कहाते हैं।

४—तैत्तिरीयसन्ध्याभाष्य में कृष्ण पण्डित ने इस शब्द के तीन निर्वचन किये हैं—

(क) दीव्यति प्रकाशते स देवः।

(ख) ध्यानत्वात् हृदयारविन्दे क्रीडतीति देवः।

(ग) द्युलोकवर्तित्वात् वा देवः ।

इनमें से प्रथम दो निर्वचन धात्वर्थ को दृष्टि में रखकर किये हैं, अन्तिम निरुक्त के '**द्युस्थानो भवतीति**' पर आश्रित है ।

देव शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में देव शब्द भगवान् का वाचक है—

यों देवो अग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ श्वेता० २-१७

यः = जो **देवः** = स्वयंप्रकाश चिन्मात्र होने से देव नाम से पुकारे जाने-वाले भगवान् **अग्नौ** = अग्नि में अथवा अग्रगियों में **आविवेश** = विद्यमान है । अर्थात् अपने तेज से अग्नि में प्रकाश तथा दाह शक्ति के प्रदाता हैं और अग्रगियों (Leaders) को अग्रणी बनने की शक्ति देते हैं । **यो अप्सु आविवेश** जो एकरस भगवान् जलों में अपनी सत्ता से रस डालते हैं तथा कर्मों को फलोन्मुख होने के लिये प्रेरित करते हैं । **यः विश्वं भुवनमाविवेश** = और जो इस सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं ।[1] **य ओषधिषु** = और जिन्होंने ओषधियों में व्याप्त होकर उनमें ताप नाशक शक्ति आधान की है । **यः वनस्पतिषु** = और जिन्होंने वनस्पतियों[1] में प्रविष्ट होकर उनमें पालक शक्ति स्थापित की है **तस्मै देवाय** = ज्ञान स्वरूप होने से, जगत् रचना करके उसमें व्यापक होने से सच्चिदानन्दस्वरूप होने से जिनका नाम देव है । उन भगवान् को **नमो नमः** = हमारा वारंवार नमस्कार हो ।

देवाय नमः

कुबेर

पुराणों में कुबेर धन के देवता माने गये हैं । वे देवताओं के कोषाध्यक्ष हैं, अतः धनपति भी कहाते हैं । श्री महाराज का कथन है कि कुबेर भी परमेश्वर का ही नाम है । आप लिखते हैं—

---

१. ओषधि और वनस्पति का लक्षण पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार किया है—'फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः । ओषध्यः फलपाकान्ता लता गुल्माश्च वीरुधः ॥ काशिका ८।४।६ में उद्धृत । इसके अनुसार केवल

१—(क) 'कुवि आच्छादने' इस धातु से कुबेर शब्द सिद्ध होता है जो आकाशादि का आच्छादक है उसका नाम कुबेर है इससे परमेश्वर का नाम कुबेर है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. ११)।

(ख) कुबि आच्छादने इस धातु से कुबेर सिद्ध होता है 'यः सर्वं कुम्बति स्वव्याप्त्याच्छादयति स कुबेरो जगदीश्वरः' जो अपनी व्याप्ति से सबका आच्छादन करे इससे उस परमेश्वर का नाम कुबेर[1] है। (स. प्र. पृ. ८ स्तं. १)।

(ग) 'कुम्बेर्नलोपश्च' इस उणादिसूत्र (१।५९) की व्याख्या करते हुए श्री महाराज लिखते हैं—कुम्बत्यन्यानाच्छादयति इति कुबेरः।

आशय यह है कि सम्पूर्ण जगत् में आवासित होने से भगवान् कुबेर[1] कहाते हैं। उपनिषत् कहती है 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (ईश. १)।

२—एक निर्वचन यह भी है 'कुम्बत्याच्छादयति परेषामैश्वर्यमिति कुबेरः'। आशय यह कि जो सबके ऐश्वर्य को आच्छादित करते हैं इसलिये भगवान् कुबेर कहाते हैं। परमेश्वर लघुऐश्वर्य वालों को आच्छादित कर ही लेता है स्वयं परमैश्वर्यवान् होने से, अथवा अपने भक्त के ऐश्वर्यों को आच्छादित अर्थात् ढँक के रखते हैं, नष्ट नहीं होने देते।

कुबेर का भगवद्वाचकत्व—निम्न स्थल पर कुबेर शब्द भगवान् का वाचक है—

फलवाले गूलर आदि वनस्पति, पुष्प-फल उभयवान् आम्रादि वृक्ष, फल पकते ही जो नष्ट हो जावें ऐसे गेहूँ जौ आदि ओषधियाँ, लता गुल्म आदि वीरुद् कहाते हैं। ऐसे ही लक्षण मनु १।४६, ४७ तथा चरक सूत्रस्थान १।७२ में भी किए हैं। ये चार उद्भिज के भेद कहे गये हैं। सम्पा०।

1. सत्यार्थप्रकाश के सभी संस्करणों में 'कुवेर' शब्द (दन्त्योष्ठ्यवान्) छप रहा है। धातुस्वरूप में भी 'कुवि' दन्त्योष्ठ्यवान् का निर्देश है। परन्तु यह चिन्त्य है। कुबेर शब्द पवर्गीय बकारवान् साधु है, उणादिकोश में बकारवान् ही पढ़ा है। धातुगण में धातु भी बकारवान् ही उपलब्ध होता है। दन्त्योष्ठ्यवान् (वकारवान्) पाठ आधुनिक उच्चारणदोषजन्य है। हां, हेमचन्द्र ने 'कु' धातु से 'वेर' प्रत्यय करके अवश्य दन्त्योष्ठ्यवान् 'कुवेर' शब्द की सिद्धि दर्शाई है (द्र० हैमोणादि सूत्र ४३१)। परन्तु वह सकल व्याकरणवाङ्मय से विपरीत होने से त्याज्य है।

कुबेर ते मुखं रौद्रं नन्दिन् आनन्दमावह:।
ज्वरमृत्युभयं घोरं विश नाशय मे ज्वरम् ॥
(ऋक्परि० २९-४२)।

हे **कुबेर** = संसार को भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे सब ओर से आच्छादित करने से कुबेर नाम धारण करने वाले भगवन् **ते मुखम्** = आपका दर्शन **रौद्रम्** = 'संसार: संसारहेतुर्वा रुक्, तं द्रावयतीति रुद्र:, तदेव रौद्रम्' जन्म-मरण के बन्धन का नाशक है। **घोरम्** = भयंकर **ज्वरमृत्युभयम्** = हमारे ज्वर तथा मृत्यु भय को **विश** = विशेषरूप से विनाश कीजिये, **ज्वरं नाशय** = पीड़ा तथा रोग का भी नाश कीजिये।

कुबेराय नम:

गणपति-गणेश

गणपति तथा गणेश एक ही देवता के नाम हैं। पहले ये विघ्न के देवता थे, अतएव विघ्न की रुकावट के लिये, कहीं विघ्न न कर दें, इसलिये इनकी पूजा की जाती थी। कालक्रम से ये विघ्न-विनाशक बन गये। अतएव प्रत्येक कार्य के आरम्भ में गणपति पूजन आवश्यक है। यह है पौराणिक दृष्टिकोण। ये समस्त पद गण तथा पति अथवा गण तथा ईश इन दो शब्दों से मिलकर बने हैं। श्री महाराज लिखते हैं कि गणपति तथा गणेश नाम भी परमेश्वर के ही हैं। उनसे बढ़कर दूसरा विघ्नविनाशक और कौन हो सकता है। आप लिखते हैं—

(क) गण संख्याने इस धातु से गण शब्द सिद्ध होता है। इसके आगे ईश शब्द रखने से गणेश शब्द सिद्ध होता है 'गणानां समूहानां जगतामीश: स गणेश:' जो सब गणों का नाम संघातों का अर्थात् सब जगतों का ईश स्वामी होने से परमेश्वर का नाम गणेश है।
(स० प्र० प्र० सं० पृ० १८)

(ख) गण संख्याने इस धातु से गण शब्द सिद्ध होता है और इनके आगे ईश वा पति शब्द रखने से गणेश और गणपति शब्द सिद्ध होते हैं 'ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते तेषामीश: स्वामी पति: पालको वा' जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव

प्रख्यात पदार्थों का स्वामी व पालन करने हारा है, इससे उस ईश्वर का नाम गणेश वा गणपति है। (स प्र० पृ० १० स्तं० २)

गणपति शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर गणपति शब्द भगवान् का वाचक है—

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियते किंचनारे महामर्कं मघवन् चित्रमर्च ॥

ऋक् १०-११२-९

हे गणपते = सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् के पालक होने से गणपति नाम से पुकारे जाने वाले भगवन् **गणेषु निषीद** = आप गणों में बैठिये अर्थात् हमारे संघपति बनिये। आपके आदर्श से हम कार्य किया करें। **त्वां कवीनां विप्रतमम् आहुः** = आपको क्रान्तदर्शी मेधावियों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। श्रुति ने भगवान् को ज्ञातृतम कहा है। हे **मघवन् त्वत् ऋते किञ्चन न क्रियते** = हे परमेश्वर आपके विना कुछ किया ही नहीं जा सकता अर्थात् आपकी इच्छा के विना एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। आप हमें **महामर्कं चित्रमर्च** = अपने अज्ञान विनाशक प्राप्तव्य तेज को प्राप्त कराईये।

आशय यह कि आप गणपति हैं आप से बढ़कर दूरदर्शी कोई नहीं है, आपकी इच्छा के विना कुछ हो ही नहीं सकता। अतः आप से हमारी प्रार्थना है कि आप हमें वह तेज बल तथा शक्ति दीजिये जिससे हम भी दूरदर्शी तथा अपने गणों के रक्षक बनें।

गणेश भगवान् का नाम है, इस विषय में गणेश पुराण कहता है—

ओंकाररूपो भगवान् यो वेदादौ प्रतिष्ठितः।
यं सदा मनुष्या देवा स्मरन्तीन्द्रादयो हृदि ॥
ओंकाररूपो भगवानुक्तस्तु गणनायकः।
यथा सर्वेषु कर्मेषु पूज्यते स विनायकः ॥

आशय यह कि वेद में भगवान् ओंकाररूप से प्रतिष्ठित हैं। इन्द्रादि देव एवं मुनिगण उसका हृदय में ध्यान करते हैं। वे ही ओंकाररूपी भगवान् गणनायक या गणेश कहाते हैं। यह उद्धरण 'वैदिक एन्थोलोजी' (Vawridic Anthology) के योग्य लेखक ने दिया है।

गणपतये नमः

शेष

पौराणिक दृष्टि से शेष नाम है एकसहस्रफण वाले सर्पराज का है, जो अपने फणों पर पृथिवी को धारण किये हुए हैं। इन्हीं के अवतार लक्ष्मण, बलराम रामानुज तथा पतञ्जलि माने जाते हैं। श्री महाराज का कहना है कि इस प्रकार का कोई सर्प नहीं है, अपितु शेष नाम भी परमात्मा का ही है। पृथिवी का, समस्त जगत् का धारण भी वे ही करते हैं। श्रुति कहती है 'स दाधार पृथिवीमुत द्याम्' वे ही भगवान् पृथिवी तथा द्युलोक को धारण किये हुए हैं। आप लिखते हैं—

१—'शिष्लृ विशेषणे' इस धातु से शेष शब्द सिद्ध होता है 'यः शिष्यते स शेषः जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बच रहा है इसलिये उस परमात्मा का नाम शेष है। (स० प्र. पृ. १२ स्तं. २)।

२—वैयाकरण भी निर्वचन यही करते हैं।

३—निघण्टुओं में शेष शब्द अपत्य अर्थ में पढ़ा है। निघण्टु-व्याख्याकार देवराज यज्वा इस शब्द का इसी दृष्टि से निर्वचन करते हुए लिखते हैं "शिष् सर्वोपभोगे चुरादिर्भूवादिश्च असुन् म्रियमाणे पितरि कुलसन्तानार्थं 'परिशेषयति परिशिष्यते वा' पित्रादिभिः सह स्वयं न म्रियते अवतिष्ठते इत्यर्थः। यद्वा शिष्लृ विशेषणे रुधादिः परस्मैपदी असुन् 'विशिष्यते पित्राद्यात्मनोऽतिशयं करोति हि विद्यादिभिः'। यद्वा शिष् हिंसार्थः भूवादिः परस्मैपदी 'शेषति हिनस्ति माता पितरौ।"

आशय यह कि पिता की मृत्यु के पश्चात् बच जाने से अथवा पिता आदि की अपेक्षा अपने को अधिक उन्नत करने से अथवा स्वोत्पत्ति के द्वारा पिता माता के बलवीर्य की हानि करने से शेष नाम है सन्तान का। इस प्रकार तीन विभिन्न धातुओं से शेष शब्द बना है। उपलब्ध धातुपाठों में शिष् का अर्थ 'सर्वोपयोग' दिया है। सम्भव है यज्वा महोदय के समय सर्वोपभोग रहा हो। अथवा य और भ में थोड़ा ही भेद है। लेखक मुद्रक शोधक प्रमाद से यह परिवर्तन हो गया हो। अथवा देश भेद से दोनों ही अर्थ रहे हों जैसे शव धातु के। सर्वोपयोग का अर्थ है सबका उपयोग लेने वाला, सर्वोपभोग का अर्थ है सबका उपभोग करनेवाला। जो इस प्रकार का होगा वह अपने आप ही सबके पीछे तक रहेगा। इसलिये

शिष् धातु का लाक्षणिक अर्थ हुआ बाकी बचना, जिसे हिन्दी में कहते हैं शेष बचना। अब

(क) शेषयति सर्वानुपभुनक्ति उपयुनक्ति वा स शेषः। जो इस सम्पूर्ण जगत् का उपभोग करता है, अथवा उपयोग करता है, इससे परमेश्वर का नाम शेष है।

(ख) विशिष्यतेऽन्यैरिति शेषः। अन्यों से कुछ विशेषता रखने से भगवान् शेष है। भगवान् में विशेषता है क्लेशकर्मादि से असम्पर्क, जैसा कि **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'** (योग. १–२४) इस योग सूत्र से स्पष्ट है।

(ग) शेषति हिनस्ति प्रलयकाले सर्वं जगदिति शेषः। प्रलय में सबका संहार करने से भगवान् शेष कहाते हैं। इस प्रकार तीनों धातुओं का अर्थ भगवान् में भी संगत हो जाता है।

शेष शब्द का परमात्मा अर्थ में प्रयोग अन्वेषणीय है।

शेषाय नमः

अज

पौराणिक दृष्टि से अज नाम ब्रह्मा का है, यद्यपि वे विष्णु के नाभिकमल से जायमान हैं। सृष्टिकर्ता देवता विशेष ब्रह्मा कहाते हैं। त्रिमूर्ति में विष्णु और शिव के साथी हैं। इनका सम्पूर्ण भारत में एक ही मन्दिर है और वह पुष्कर में है।

श्री महाराज का कथन है कि अज नाम परमेश्वर का ही है क्योंकि वही एक है जो जायमान नहीं होता, कभी जन्म नहीं लेता। ब्रह्मा तो जन्म लेते ही हैं, उपनिषत् कहती है **'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्'** (श्वेता. ३-४) **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यश्च वेदान् प्रहिणोति तस्मै'** (श्वेता. ६-१८) इस प्रकार ब्रह्मा को भी उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ही वास्तव में अज हैं। आप लिखते हैं—

१—(क) **जनी प्रादुर्भावे इससे अज शब्द सिद्ध होता है 'न जायते**

इत्यजः' जिसका जन्म कभी न हुआ न है और न होगा इससे परमेश्वर का नाम अज है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. १६)।

(ख) अज गतिक्षेपणयोः जनी प्रादुर्भावे इन धातुओं से अज शब्द बनता है 'यो अजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् पदार्थान् प्रक्षिपति जानाति वा, कदाचित् न जायते सोऽजः' जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग मिलाता शरीर के साथ जीवों का सम्बन्ध करके जन्म देता और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता इससे ईश्वर का नाम अज है। (स. प्र. पृ. १० स्तं० १)

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैतानुसारी भाष्य में दो निर्वचन तो उल्लिखित प्रकार से ही किये गये हैं, किन्तु एक निर्वचन 'आद् = विष्णोः जायते इत्यजः' यह उस पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार किया गया है, जिसमें ब्रह्मा विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न हुए बताये गये हैं।

(ख) भगवद्गुणदर्पणकार श्री रङ्गनाथ तथा निर्वचनकार श्री वरदाचार्य भी इस शब्द को 'अज' धातु से बना मानते हैं।

३—निघण्टुटीका के कर्ता यज्वा महोदय भी इसे अज धातु से ही बना मानते हैं। वहाँ का लेख है 'अज गतिक्षेपणयोः पचाद्यच् वीभावाभावो व्यत्ययेन'। अर्थात् अज् धातु से अच् प्रत्यय करके अज शब्द बनता है। व्यत्यय से अज को वी आदेश नहीं होता।

४—महाभारतकार—

> नहि जातो न जायेऽहं न जनिष्ये कदाचन।
> क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः॥ महाभार. शान्ति.

इस प्रकार वह भी जनी तथा अज दोनों धातुओं से इस शब्द को बनाते हैं।

५—(क) अकारवाच्यतया जातः प्रसिद्ध इत्यजः' जो 'अ' नाम से प्रसिद्ध हैं। इसलिए भगवान् अज कहाते हैं।

(ख) अजति क्षिपत्यज्ञानमित्यजः। अर्थात् अज्ञान विनाशक होने से भगवान् अज कहाते हैं।

अज शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर अज शब्द परमेश्वर का वाचक है—

अजो नक्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वो नि याहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः॥

ऋक् १-६७-३

अजः = किसी से भी उत्पन्न न होने से, प्रकृत्यादिको संहत करके जगत् को उत्पन्न करने के कारण तथा अज्ञान का विनाशक होने से अज कहानेवाले भगवान् **नक्षाम्** = गतिशील **पृथिवीम्** = पृथिवी को **दाधार** = धारण किये है। **सत्यैः मन्त्रेभिः** = अपनी अविनाशी शक्तिओं से **द्यां तस्तम्भ** = द्युलोक को थामे हुए है। **प्रिया गुहा पदानि** = प्रिय गूढ़ प्राप्तव्य पदार्थों को **गुहम्** = ज्ञानी को **गाः** = प्राप्त कराईये। इस प्रकार हे **विश्वायुः** = सम्पूर्ण जगत् का योग विभाग करने वाले भगवन् हमें **पश्वः** = बन्धन से **नियाहि** = छुड़ाईये।

आशय यह कि भगवान् ही इस सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् का निर्माण करने वाले हैं। वे ही ज्ञानी को परमानन्द की प्राप्ति कराते हैं तथा संसार के बन्धन से छुड़ाते हैं। अतः सबको उन्हीं की प्रार्थना उपासना करनी चाहिये, अन्य की नहीं।

अजाय नमः

वसु

वसु गण देवताओं में से हैं। आठ देवताओं के एक गण का नाम वसु है। पौराणिक दृष्टि से ये ही आठों वसु शापवश भीष्म के भाइयों के रूप में भूतल पर अवतीर्ण हुए थे, जिनमें से एक भीष्म को छोड़कर शेष को उनकी माता गङ्गा ने नष्ट कर दिया था।

महाराज वैदिक मर्यादा का सम्मान करते हुए वसु आठ है यह तो मानते हैं। उपनिषत् कहती है **'कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति तस्माद्वसव इति'** (बृह० ३-९-३)। ये आठ वसु हैं और ये देवता

भी हैं। किन्तु निग्रहानुग्रह समर्थ पौराणिक दृष्टिवाले देवता नहीं। निग्रहानुग्रह समर्थ तो केवल भगवान् ही हैं, अतः उनका नाम वसु है। आप लिखते हैं:—

१—(क) वस निवासे इस धातु से वसु शब्द सिद्ध होता है। 'वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन् स वसुः' अथवा 'सर्वेषु भूतेषु यो वसति स वसुः' सब आकाशादिक भूत जिसमें रहते हैं उसका नाम वसु है अथवा सब भूतों में जो वासकर्ता है उसका नाम वसु है। इससे वसु परमेश्वर का नाम है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १५)

(ख) वस निवासे इस धातु से वसु शब्द सिद्ध हुआ है 'वसन्ति भूतानि यस्मिन् अथवा यः सर्वेषु वसति स वसुरीश्वरः' जिसमें सब आकाशादिक भूत वसते है और जो सब में वास कर रहा है इसलिये उस परमेश्वर का वसु है। (स० प्र० पृ० ८ स्तं २)

२—निरुक्तकार लिखते हैं **'वसवो यद्विवसते'** (नि० १२-४१) यहां भी शब्द रचना वस धातु से ही मानी गई है।

३—यज्वा महोदय इस शब्द का निर्वचन इस प्रकार करते हैं—**'वसन्ति लोकेषु वसन्त्यत्र रसाः, वसत्यत्र परं तेजः, आच्छादयति वा लोकान् वृष्ट्या, विवासति वा तमः** । ये निर्वचन वसु शब्द का अर्थ सूर्य तथा किरण मानकर किये गये हैं। इनमें से **'वसत्यत्र परं तेजः'** तथा **विवासयति तमः = अज्ञानम्'** यह दो निर्वचन इस शब्द के भगवान् अर्थ मानने पर भी संगत हो सकते हैं, क्योंकि वे परम तेज के धाम हैं तथा अज्ञान के विनाशक हैं।

४—विष्णुसहस्रनाम के—

शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में **'वसन्ति भूतान्यत्र इति वसुः, तेष्वयमपि वसतीति वसुः, आच्छादयत्यात्मस्वरूपं माययेति वा'** यह तीन निर्वचन किये गये हैं। इनमें से दूसरे निर्वचन का मूल **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तै० उ० २-६) यह उपनिषद् वाक्य है। तीसरा निर्वचन अद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से किया गया है।

५—खण्डराज दीक्षित बहृच सन्ध्या मन्त्रार्थदीपिका में लिखते हैं **'वृष्ट्या कान्त्या वासयति जगत् तस्मात् वसुः स्मृतः'**। आशय यह कि सुख की वृष्टि करने तथा अपनी कान्ति से सब जगत् को आच्छादित करने से भगवान् वसु कहाते हैं।

वसु शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर वसु शब्द परमेश्वर का वाचक है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।

अधा ते सुम्नमीमहे। अथर्व २०-१०८-२

हे **वसो** = सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मन् **त्वं हि नः पिता** = आप ही हमारे पिता अर्थात् हमारा पालन तथा रक्षण करने वाले हैं। हे **शतक्रतो** = हे अनन्तज्ञानयुक्त भगवान् **त्वं हि नः माता बभूविथ** = आप ही हमारी माता के सदृश हमारी देखभाल करने वाले हैं। **अधा वयम्** = और हम **ते सुम्नम् ईमहे** = आप के सुख की याचना करते हैं।

आशय यह कि भगवान् सर्वत्र परिपूर्ण हैं, ज्ञान के भण्डार हैं, हमारे रक्षक पालक तथा हमें सुख देने वाले हैं।

वसवे नमः

धर्मराज

पौराणिक दृष्टि से धर्मराज तथा यमराज एक ही हैं। स्व-स्व कर्मानुसार जीवों को विभिन्न योनियों में जन्म देना इनका कार्य है। श्री चित्रगुप्तजी महाराज इनके मन्त्री हैं, जो जीवों के कर्मों का लेखा जोखा रखते हैं।

श्री महाराज का कहना है कि इस प्रकार का कोई पृथक् देवता नहीं है। भगवान् ही धर्मराज हैं। वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् हैं। उन्हें न तो किसी प्रकार की किसी की सहायता की आवश्यकता है और न किसी बात को समझाने बुझाने की। आप लिखते हैं—

१—(क) न्यायकारी नाम के अर्थ में धर्म शब्द की व्याख्या कर दी है उससे जान लेना 'धर्मेण राजते स धर्मराजः अथवा धर्मं राजयति प्रकाशयति स धर्मराजः' धर्म न्याय का और न्याय पक्षपात के त्याग का नाम है तिस धर्म से सदा प्रकाशमान होय अथवा सदा धर्म का प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम धर्मराज है।

(स. प्र. प्र. सं. पृ. २१)

(ख) 'यो धर्मेण राजते स धर्मराजः' जो धर्म ही से प्रकाशमान और अधर्म से रहित धर्म ही का प्रकाश करता है इसलिये परमेश्वर का नाम धर्मराज है। (स. प्र. पृ. १२ स्तं. १)।

(ग) 'अर्तिस्तुसुहुसृधृ' आदि उणादिसूत्र (१।१४०) की व्याख्या करते हुए महाराज लिखते हैं—'ध्रियते सुखप्राप्तये सेव्यते स धर्मः, धर्मेण राजते इति धर्मराजः'। आशय यह कि जो कार्य सुख के लिये किये जाते हैं अथवा जिनसे सुख उत्पन्न होता है वे कहाते हैं 'धर्म'। इससे जो सुशोभित हो वह है धर्मराज। यह निर्वचन धर्मात्मा पुरुषों की दृष्टि से किया गया है। आगे चलकर फिर ऐसा निर्वचन किया है 'राजते प्राप्तो भवतीति राजा, धर्मेण राजते प्राप्तो भवतीति धर्मराजः' अर्थात् धर्म द्वारा प्राप्त किये जाने से भगवान् धर्मराज कहाते हैं। यह निर्वचन इस शब्द का भगवदर्थपरक है।

२—(क) एक निर्वचन यह भी है 'अभ्युदयनिःश्रेयसाभ्यां जगद् धरतीति धर्मः तेन राजते इति धर्मराजः' अर्थात् अभ्युदय निश्रेयस द्वारा जगत् का धारण करनेवाला पदार्थ कहाता है धर्म, इस प्रकार के धर्म से शोभित होने से भगवान् धर्मराज कहाते हैं।

(ख) अभ्युदयनिःश्रेयसरूपस्य धर्मस्य राजा वेदद्वारा प्रकाशकः धर्मराजः परमात्मा। स्मृति कहती है 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु २।६)।

धर्मराज शब्द का भगवत्परक वचन अन्वेषणीय है।

धर्मराजाय नमः

काल

पौराणिक दृष्टि तथा लोकसामान्य की दृष्टि से काल नाम है मृत्यु का। यह शब्द निरूढलाक्षणिक है, क्योंकि मनुष्य की मृत्यु किसी न किसी काल में ही होती है।

श्री महाराज का कहना है कि वह काल सिवा परमेश्वर के और कोई नहीं है। उपनिषत् कहती है—

ज्ञः कालकालो गुणी सर्ववित् यः। (श्वेता० ६।१६)
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ (कठ० २।३।३)

अर्थात् भगवान् काल के भी काल हैं। इनसे मृत्यु भी भय खाती है। अतः काल शब्द मुख्यतः परमेश्वर का ही वाचक है। आप इस शब्द के विषय में लिखते हैं—

१—(क) कल संख्याने इस धातु से काल शब्द सिद्ध होता है। 'कलयति सर्वं जगत् स कालः' जो सब जगत् की संख्या एवं परिणाम को आदि, अन्त, मध्य को यथावत् जानने से परमेश्वर का नाम काल है। उसका काल कोई भी नहीं वह काल का भी काल है।

(स. प्र. प्र. सं. पृ. २२३)

(ख) कल संख्याने इस धातु से काल शब्द बना है 'कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः' जो जगत् के सब पदार्थ और जीवों की संख्या करता है इसलिये उस परमेश्वर का नाम काल है।

(स. प्र. पृ. १२ स्तं. २)

इस प्रकार यह निर्वचन परमेश्वर की सर्वज्ञता का द्योतक है न कि उसकी संहार-कर्तृता का।

२—प्रसंगवश निरुक्तकार ने भी काल शब्द का निर्वचन किया। वे लिखते हैं 'कालः कालयतेर्गतिकर्मणः' (नि. २-२५)।

आशय यह कि जो सबको भेजता रहता है, व्यतीत करता रहता है वह काल है। नैरुक्त निर्वचन काल का अर्थ समय मानकर किया गया है। किन्तु 'कालयति गमयति सर्वं जगत् इति कालः परमेश्वरः' सब जगत् में गति उत्पन्न कर उसका संचालन करने से भगवान् काल कहाते हैं।

३—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैत सम्प्रदायानुसारी भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं—'कलयति सर्वमिति कालः'। यहाँ 'कलयति' का अर्थ है 'आकलयति,' प्रलय में सबका आकलन करने से भगवान् काल कहाते हैं। उपनिषत् कहती हैं—

> यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
> मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ (कठ १-२-२४)

(ख) विशिष्टाद्वैतानुसारी भाष्यकार लिखते हैं—'आत्मनि चराचर-संकलनात् कालः'। अर्थात् संहारकाल में सबको अपने में लीन कर लेने के कारण भगवान् काल कहाते हैं।

४—महाभारत के व्याख्याकार नीलकण्ठ लिखते हैं—'कलयति जन्ममरणप्रवाहं संवलयतीति कालः'। अर्थात् जन्ममरण के प्रवाह को संवलित करने के कारण भगवान् काल कहाते हैं।

५—एक अन्य निर्वचन भी है 'कल्पते सम्यक् ख्यायते ज्ञायते, यद्वा प्रवचनेन प्रस्तूयते ज्ञानिभिः स्तोतृभिश्चेति कालः परमेश्वरः।

काल शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में काल शब्द परमेश्वर का वाचक है—

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालात् ऋचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥
(अथर्व १९-५४-३)

पुत्रः = परम महत् आकाशादि तथा ब्रह्मा आदि के त्राता **कालः** = जगत् का संचालन करने से काल कहे जाने वाले भगवान् ने **पुरा ह भूतं भव्यं च अजनयत्** = ऐसा है कि भूत तथा भविष्यत् को उत्पन्न किया। यहाँ 'च' से वर्तमान का भी ग्रहण होता है। आशय यह कि त्रिकालदर्शी भगवान् के लिये तो केवल वर्तमान ही काल है, किन्तु लोक दृष्टि से उन्होंने यह कालत्रय का विभाग किया। **कालात्** = सर्वज्ञान के आकलन करने वाला होने से काल कहे जाने वाले भगवान् से ही **ऋचः समभवन्** = ऋचायें उत्पन्न हुईं तथा उन्हीं से **यजुः अजायत** यजुः भी उत्पन्न हुआ है।

अथर्व संहिता के १९ वें काण्ड के ५३ तथा ५४ सूक्त काल के महत्त्व का वर्णन करते हैं। इनमें जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं का उत्पादक काल भगवान् को माना है।

महाभारत में एक स्थान पर आया है—

नातिप्रज्ञोऽसि विप्रर्षे योत्मानं त्यक्तुमिच्छसि।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो हि परमेश्वरः ॥
उद्योग ११२-२०

आशय यह कि हे विप्रर्षे तुम बुद्धिमान् नहीं हो जो काल को कृत्रिम समझते हो। काल तो भगवान् का नाम है।

इसी प्रकार विष्णु पुराण में भी कहा है—

कालो भवाय भूतानामभवाय च पाण्डव।
कालमूलमिदं ज्ञात्वा भव स्थैर्यपरोऽर्जुन ॥
वि० पु० ५-३८-५५

आशय यह कि काल ही से जगत् उत्पन्न होता है काल ही उसका विनाश करता है तब इस जगत् का कारण काल है। इन दोनों स्थलों पर काल भगवान् का ही नाम है।

कालाय नमः

सरस्वती

पौराणिक दृष्टि से सरस्वती विद्या की देवता है। इसका स्वरूप चतुर्भुज है। यह वीणा-पुस्तक-धारिणी तथा हंसवाहिनी है। श्वेत परिधान धारण करती है। कहने का आशय यह कि यह सर्वशुक्ला है। यह कल्पना है भी सुन्दर। ज्ञान सत्त्व का कार्य है 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' (गी० १४-१७)। उस सात्त्विक पदार्थ की देवता का स्वरूप तो परमसात्त्विक ही कल्पित होना चाहिये।

इस पर श्री महाराज का कथन यह है कि सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान तथा धर्म के मूल वेदरूपी ज्ञान के प्रदाता भगवान् को छोड़कर और कौन ज्ञान-विज्ञान का देवता हो सकता है। अतः सरस्वती शब्द के वाच्य भगवान् हैं। आप लिखते हैं—

१—सृ गतौ इससे सरस् शब्द से मतुप् और ङीप् प्रत्यय के करने से सरस्वती शब्द सिद्ध होता है। 'सरो सरस् नाम विज्ञानम्। विज्ञानं नाम विविधं यत् ज्ञानं तत् विज्ञानम्' सर शब्द विज्ञान का वाचक है विविध नाम नाना प्रकार शब्द, शब्दों को प्रयोग और शब्दार्थ सम्बन्धों का यथावत् जो ज्ञान उसका नाम विज्ञान है। 'सरो नाम विज्ञानं विद्यते यस्याः सा सरस्वती' सर नाम विज्ञान सो अखण्डित विद्यमान है जिसका उसका नाम सरस्वती है। ऐसा परमेश्वर ही है। इससे सरस्वती नाम परमेश्वर का है। (स० प्र० प्र० सं पृ० १९)

(ख) सृ गतौ इस धातु से सरस् उससे मतुप् और ङीप् प्रत्यय होने से सरस्वती शब्द सिद्ध होता है। 'सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती' जिसमें विविध विज्ञान अर्थात् शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, प्रयोग का ज्ञान यथावत् होने से उस परमेश्वर का नाम सरस्वती है। (स० प्र० पृ० ११ स्तं० १)

२—निघण्टु-भाष्यकार श्री देवराज यज्वा इस शब्द का एक दूसरा ही निर्वचन करते हैं जो भगवान् की व्यापकता का द्योतक है। वे लिखते हैं **'सरः प्रसरणमस्यास्तीति'** अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् जिसका प्रसार है, अथवा जो सम्पूर्ण जगत् में प्रसृत है। इससे भगवान् का नाम सरस्वती है।

सरस्वती शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न मन्त्र में सरस्वती शब्द भगवान् का वाचक है—

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥

ऋक् १०-१७-४

देवयन्तः = दिव्य ज्ञान की इच्छावाले **सरस्वतीं हवन्ते** = सम्पूर्ण ज्ञान के आधार होने से सरस्वती कहे जाने वाले भगवान् को पुकारते हैं। **सुकृतः** = पुण्यकर्मा ज्ञानी पुरुष भी **सरस्वतीम्** = ज्ञान विज्ञान के भण्डार भगवान् को **अह्वयन्त** = पुकारते हैं कब? **अध्वरे तायमाने** = जब हिंसा रहित शुभ कर्म करना चाहते हैं। **सरस्वती** = अखण्ड ज्ञान के भण्डार **दाशुषे** = यज्ञादि द्वारा हविष्य प्रदान करने वाले को **वार्यम्** = अभिलषित का **दात्** = प्रदान करता है।

आशय यह कि दिव्यज्ञानप्राप्ति की इच्छा वाले अखण्ड ज्ञान के भण्डार श्री भगवान् से ही ज्ञान की याचना करते हैं, उन्हीं को पुकारते हैं। तथा प्रत्येक शुभ कर्म में उनका स्मरण करते हैं। वे भी इस प्रकार के प्रार्थयिताओं की इच्छा को पूर्ण करते हैं। गीता में कहा है :—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता—९-२२)

इत्यवशिष्टनामाख्ये पञ्चमे प्रकरणे
पौराणिकदेवताविशेषवाचकशब्दानाम्
ईश्वरपरत्व-निरूपणपरः
षष्ठो वर्गः

वर्ग ६ **नाम संख्या ९**
पूर्वागत ५५
पूर्णसंख्या ६४

सातवां वर्ग

अग्रिम सातवां वर्ग सम्बन्धिवाचक शब्दों का है। सम्बन्धिवाचक शब्द वे हैं, जिनमें से एक का उच्चारण करने पर तत्सम्बन्धी अपर की प्रतीति हो। जैसे माता अथवा पिता कहने पर तत्सम्बन्धी सन्तान की प्रतीति होती है क्योंकि विना सन्तान के किसी में भी मातृत्व, अथवा पितृत्व आ ही नहीं सकता। श्री महाराज का कहना है कि ये शब्द भी भगवान् के वाचक हैं। आपने जिन शब्दों का इस प्रसंग में भगवत्परक व्याख्यान किया है, अन्य आचार्यों ने भी उन्हें भगवत्परक माना है। ये शब्द संख्या में सात हैं :—

पिता पितामह प्रपितामह
माता आचार्य गुरु
बन्धु

पिता

१—श्री महाराज ने इस शब्द को 'पा पाने' तथा 'पा रक्षणे' इन दोनों धातुओं से बनाया है। आप लिखते हैं—

(क) पा पाने–पा रक्षणे इन दो धातुओं से पिता शब्द सिद्ध होता है। जैसे कि पिता अपनी प्रजा के ऊपर कृपा और प्रीति करता है तैसे परमेश्वर भी सब जगत् के ऊपर कृपा और प्रीति कर्ता है। इससे परमेश्वर का नाम सब जगत् का पिता है (स. प्र. प्र. सं. पृ. १५)।

(ख) पा रक्षणे इस धातु से पिता शब्द सिद्ध हुआ है 'यः पाति सर्वान् स पिता' जो सबका रक्षक जैसे पिता अपने सन्तानों पर सदा कृपालु होकर उनकी उन्नति चाहता है वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति चाहता है। इससे उनका नाम पिता है। (स. प्र. पृ. ९ स्तं. २)।

२—निरुक्तकार ने प्रसंगवश पिता शब्द का व्याख्यान किया है। उससे उनकी दृष्टि से इस शब्द की रचना पर प्रकाश पड़ता है। आप लिखते हैं— पिता पाता वा पालयिता वा, जनयिता (निरु. ४-२१)। इससे प्रतीत होता है कि निरुक्तकार इसके मूल में 'पा रक्षणे' धातु मानते हैं तथा जनयितृत्वेन रक्षण इसका प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं।

३—'पा पाने' धातु से इसकी रचना मानने पर निर्वचन होगा 'पिबति जगत् संहारकाले इति पिता' अर्थात् प्रलय काल में सम्पूर्ण जगत् का पान कर लेने से वे पिता हैं।

पिता शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर पिता शब्द भगवान् का वाचक है—

उप ते स्तोमान् पशुपा इवाकरम् रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे।
भद्रा हि ते सुमतिर्मृळयत्तमाथा वयमव इत्ते वृणीमहे।
(ऋक् १-११४-९)

हे पितः = जगत् के रक्षक एवं पालक होने से पिता नाम से पुकारे जाने वाले भगवन् पशुपा इव ते स्तोमान् उपाकरम् = सबके प्रति सम दृष्टि रखने वालों के रक्षक के सदृश मैंने आपकी स्तुती की है। अस्मे मरुतां सुम्नं रास्व = हमें वह सुख दीजिए, जिसका उपभोग बलवान् पुरुष करते हैं। ते भद्रा सुमतिः आ मृडयत्तम = तुम्हारी कल्याणकारिणी बुद्धि से हमें परम सुख प्राप्त हो। अथ वयम् तव इत् अवः आवृणीमहे = और हम आप से ही रक्षा की प्रार्थना करते हैं॥

पित्रे नमः

पितामह—प्रपितामह

इन शब्दों पर श्री महाराज लिखते हैं —

(क) 'पितॄणां पिता पितामहः' जितने जगत् में पिता लोग हैं उन सभों के पिता होने से परमेश्वर का नाम पितामह है।

'पितामहानां पिता प्रपितामहः' जगत् में जितने पिताओं के पिता हैं उन सभों के पिता होने से परमेश्वर का नाम प्रपितामह है।
(स० प्र० प्र० सं पृ० १५)

(ख) यः पितॄणां पिता स पितामहः' जो पिताओं का भी पिता है इससे उस परमेश्वर का नाम पितामह है।

यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः' जो पिताओं के पितरों का पिता है इससे परमेश्वर का नाम प्रपितामह है। (स. प्र. पृ. ९ स्तं. २)

आशय यह कि भगवान् सबके पिता हैं। इस नाते से हम लोगों के पिताओं के भी पिता हैं और उनके पिताओं के भी पिता हैं। इसलिये भगवान् भिन्न भिन्न दृष्टियों से पिता, पितामह तथा प्रपितामह नाम से पुकारे जाते हैं। जैसे एक ही व्यक्ति किसी की दृष्टि से पिता, किसी की दृष्टि से पुत्र और किसी की दृष्टि से पौत्र कहाता है।

प्रपितामह शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर भगवान् को प्रपितामह कहा गया है—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च। (गी. ९-१७)

वृद्ध हारीत लिखते हैं—

सर्वान् स त्राति सविता पिता च पितृतत्पिता।
(वृ. हा. १०-५१)

अर्थात् सब की रक्षा करने से भगवान् सविता हैं तथा पिता पितामह और प्रपितामह भी भगवान् कहाते हैं।

पितामहाय नमः **प्रपितामहाय नमः**

माता

इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

(क) मा माने माङ् माने शब्दे च इन दो धातुओं से माता शब्द सिद्ध होता है जैसे कि माता अपनी प्रजाका मान करती है और लाड़न वैसे ही सब जगत् का मान और लाड़न अत्यन्त कृपा और प्रीति करने से परमेश्वर का नाम माता है। (स. प्र. प्र. सं. पृ. १५)

(ख) यः मिमीते मानयति सर्वाञ्जीवान् स माता' जैसे पूर्ण कृपा युक्त जननी अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है। वैसे परमेश्वर भो सब जीवों की बढ़ती चाहता है इससे परमेश्वर का नाम माता है। (स. प्र. पृ. ९ स्तं. २)

२—निरुक्तकार ने भी माता शब्द का निर्वचन किया है और उसका अर्थ अन्तरिक्ष माना है। वहाँ का लेख है—'माता अन्तरिक्षम्—निर्मीयन्ते अस्मिन् भूतानि'। इसी धातु से यदि 'निर्मीयन्ते अनेन

भूतानि' इस प्रकार निर्वचन किया जाय तो माता का अर्थ जगन्निर्माता भगवान् होगा।

३—मनु अवबोधने से भी माता शब्द बनता है। तब निर्वचन होगा 'मनुते जानातीति माता' अर्थात् सर्वज्ञ होने से भगवान् माता कहे जाते हैं। नारायण-लक्ष्मी संवाद के द्योतक निम्न श्लोक में माता शब्द का यही अर्थ स्वीकृत हुआ है—

देवि त्वं कुपिता, त्वमेव कुपिता कोऽन्यः पृथिव्याः पिता।
माता त्वं जगतां त्वमेव जगतां माता न विज्ञोऽपरः॥

४—दो निम्न निर्वचन भी इसी अर्थ के द्योतक हैं—

(क) माति जगत् अस्मिन् इति माता।
(ख) मिमीते आहूयते सर्वैरिति माता॥

पहले निर्वचन का मूल 'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' (यजु. ४०. १) इस याजुषी श्रुति में निहित है। दूसरे निर्वचन का मूल है 'मां ह्वन्ते पितरं न जन्तवः (ऋ० १०।४८।१) यह श्रुति।

मात्रे नमः

आचार्य

इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं :—

१—चर गतिभक्षणयोः आङ्पूर्वक इस धातु से आचार्य शब्द सिद्ध होता है। 'य आचारं ग्राहयति सर्वा विद्या वा बोधयति स आचार्य ईश्वरः'' जो सत्य आचार का ग्रहण करने हारा और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके सब विद्या प्राप्त कराता है इससे परमेश्वर का नाम आचार्य है। (स० प्र० पृ० स्त० २)।

२—निरुक्तकार ने भी आचार्य शब्द का निर्वचन किया है। वहां का लेख है 'आचार्यः कस्माद् आचारं ग्राहयति, अचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा'। आशय यह कि सदाचार का मार्ग दिखाने से, पदार्थों का उपदेश देने से तथा छात्र की मनोवृत्ति का अध्ययन करने से आचार्य कहाता है।

वायु पुराण में आचार्य शब्द के उल्लिखित निर्वचनों का स्पष्टीकरण निम्न श्लोक में किया गया है—

स्वयमाचरते यस्माद् आचारे स्थापयत्यपि।
आचिनोति च शास्त्रार्थान् यमैः सन्नियमैः सह॥

वा. पु. ५९. ३०

अर्थात् स्वयं भी आचारवान् होता है अतएव औरों को भी आचार की मर्यादा में रखता है, शास्त्रीय विषयों का सञ्चय एवं व्याख्यान करता है इसलिये उसे आचार्य कहते हैं।

४—**सम्माननोत्संजनाचार्य** (१-३-३६) आदि सूत्र द्वारा पाणिनि महाराज ने आचार्यकरण अर्थ में णीञ् धातु से आत्मनेपद का विधान किया है। वहाँ उदाहरण दिया है '**माणवकमुपनयते—विधिना आत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। उपनयनपूर्वकेणाध्यापनेन उपनेतरि आचार्यत्वं क्रियते**'। आशय यह कि उपनयन करके छात्र को अध्यापन के लिये अपनी संरक्षता में लेने का नाम है 'आचार्यकरण'। तब 'आचारं ग्राहयति' का यह आशय भी हो सकता है कि जो उपनयन द्वारा छात्र को अध्यापन के लिये अपनी संरक्षकता में लेता है वह है आचार्य।

मनुस्मृति में आचार्य का निम्न लक्षण दिया है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥ मनु. २-१४०

अर्थात् उपनयन करके छात्र को कर्म ब्रह्मात्मक वेद पढ़ाने से आचार्य होता है। आशय वही 'आचारं ग्राहयति'। ये सब निर्वचन मानुष आचार्य को दृष्टि में रखकर किये गये हैं।

वैसे भगवान् भी वेदोपदेश द्वारा आचार की मर्यादा के ग्राहक हैं तथा हमारी बुद्धियों के प्रेरक हैं अतः **आचारं ग्राहयति, आचिनोति बुद्धिम्** ये दो निर्वचन भगवान् में भी सुसंगत होते हैं।

आचार्य शब्द का परमेश्वर अर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर आचार्य शब्द भगवान् का वाचक है—

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी। अथर्व ११-५-१६

आचार्यः=आचार के उपदेष्टा तथा प्रतिष्ठापक होने से आचार्य कहाने वाले भगवान् **ब्रह्मचारी**=ब्रह्म अर्थात् वेद के द्वारा तदनुकूल आचरण का उपदेश तथा ग्रहण कराने वाले हैं। अतएव वे **ब्रह्मचारी प्रजापतिः**=जगत् के पालक और रक्षक हैं तथा वे **प्रजापतिः विराजति**=जीव, जगत् तथा इसकी कारण भूत प्रकृति, इन तीनों की अपेक्षा विशेष रूप से राजमान हैं। तथा **वशी**=इसको अपने वश में रखने वाले हैं अर्थात् जीवों को कर्मानुसार फल देते तथा जगत् का मर्यादा में संचालन करते हैं। अतएव वे **इन्द्रः अभवत्**=परमैश्वर्यवान् हुए। उनसे बढ़ कर किसी का ऐश्वर्य नहीं है इसीलिये वे परमेश्वर हैं॥

आचार्याय नमः

गुरु

इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

१—गॄ शब्दे इस धातु से गुरु शब्द बनता है 'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः। (स० प्र० पृ० ९ स्तं. २)

आशय यह कि वेदोपदेष्टा होने से भगवान् गुरु कहाते हैं।

२—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) अद्वैत सम्प्रदायानुसारी भाष्य में लिखा है **'सर्वविद्योपदेष्टृत्वात्, सर्वेषां जनकत्वात् वा गुरुः।** आशय यह कि सब विद्याओं का उपदेष्टा होने से तथा सबका जनक होने से भगवान् गुरु हैं। यहाँ प्रथम व्याख्या में धातु 'गॄ' ही होगी, द्वितीय में या तो 'जनयतीति गुरुः' ऐसा निर्वचन कर जनी प्रादुर्भावे से गुरु शब्द बनाया जायगा अथवा गॄ धातु का ही अर्थ जनन माना जायगा **'धातूनामनेकार्थत्वात्'**।

(ख) विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायानुसारी भाष्यकार लिखते हैं—

(i) वेदैः स्वाधिकारबोधनात् गुरुराचार्य इति वा।

(ii) कालेनानवच्छेदात् सर्वेषामपि गुरुः अधिक इति वा।

दूसरे निर्वचन का मूल **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** (यो. सू. १।२६) पर निर्भर है।

(iii) इसी की निरुक्ति-व्याख्या में लिखा है—

'ब्रह्मेन्द्रवरुणादीनां गुरुः वेदोपदेशनात्'।

आशय वही कि वेदोपदेष्टा होने से भगवान् गुरु हैं। इस निर्वचन का मूल **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यश्च वेदान् प्रहिणोति तस्मै'** (श्वेता० ६।१८) इस उपनिषद् वाक्य में निहित है !

३—वैयाकरण गॄ निगरणे से भी गुरु शब्द का निर्वचन करते हैं। उनका आशय है **'गिरत्यज्ञानमिति गुरुः'**। अर्थात् विद्यादान करके अज्ञान का विनाशक होने से गुरु कहा जाता है।

भगवान् भी वेद के ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाशक होने से गुरु हैं।

४—गिरति निगिलति जगत् प्रलये इति गुरुः। प्रलय में जगत् का स्वकारण में निगरण कराने से भी भगवान् गुरु हैं। मनुस्मृति में लिखा है—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥
(मनु २-१४२)

मनु का यह लक्षण मानुष गुरु की दृष्टि से है।

गुरवे नमः

बन्धु

इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

१—(क) बन्ध बन्धने इस धातु से बन्धु शब्द सिद्ध होता है जिसने सब लोकलोकान्तर अपने अपने स्थान में प्रबन्ध करके यथा-वत् रक्खे हैं और अपने अपने परिधि के ऊपर सब लोक भ्रमण करें। इस प्रबन्ध के करने से किसी का किसी से मिलना न होय। जैसे बन्धु बन्धु का सहायकारी होता है वैसे ही सब पृथिव्यादिकों का धारण करना और सब पदार्थों का रचन करना इससे परमेश्वर का नाम बन्धु है। (स० प्र० प्र० सं० पृ० १५)।

(ख) बन्ध बन्धने इस धातु से बन्धु शब्द सिद्ध होता है 'यः स्वस्मिन् चराचरं जगत् बध्नाति बन्धुवद्धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्तते स बन्धुः' जिसने अपने में सब लोकलोकान्तरों का नियमों से बद्ध कर रक्खे और सहोदर के समान सहायक है। इसी से अपनी-अपनी परिधि वा नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते। जैसे भ्राता भाईयों का सहायकारी होता है वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण, रक्षण और सुख देने से बन्धु संज्ञक है। (स० प्र० पृ० ९ स्तं० २)।

(ग) उणादि द्वारा सिद्ध 'बन्धु' शब्द का निर्वचन करते हुए आप लिखते हैं 'प्रेम्णा बध्नातीति बन्धुः' (१।१०)। यह निर्वचन लोकदृष्टि से है। कहा भी है—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिः पंकजे भवति खलु कोशनिबद्धः॥

२—निरुक्तकार ने भी प्रसंगवश बन्धु शब्द का निर्वचन किया है। वहां का लेख है **'बन्धुः सम्बन्धनात्'** (निरु० ४।२१)। आशय यह कि सम्बन्ध करने से भगवान् बन्धु कहाते हैं।

उक्त लेखों का आशय यह है कि जगत् को नियमों में बांधने तथा जगत् के जीवों का बन्धुवत् सहायक होने तथा सबसे सम्बद्ध होने से भगवान् बन्धु हैं।

बन्धु शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर बन्धु शब्द परमात्मा वाचक है—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्यध्यैरयन्त॥ यजुः ३२-४

बन्धुः = सबको नियम में बांधने तथा सबका बन्धुवत् सहायक होने से बन्धु पदवाच्य भगवान् **नः जनिता विधाता** = हमें उत्पन्न करने वाले तथा हमारे लिये विधि विधान का निर्माण करने वाले हैं। **विश्वा धामानि भुवनानि वेद** = लोक लोकान्तरों के सम्पूर्ण नाम, स्थान और जन्मों को भली भांति जानते हैं। **अमृतमानशाना देवाः** = मोक्ष के सुख का भोग करने वाले विद्वान् **यत्र तृतीये धामनि** = जिस लौकिक सुख दुःख से परे भगवान् के स्वरूप में **अध्यैरयन्त** = स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं। हम सब उसी भगवान् का स्मरण किया करें।

बन्धवे नमः

इत्यवशिष्टनामाख्ये पञ्चमे प्रकरणे
सम्बन्धिवाचकशब्दानामीश्वर-
परत्वनिरूपणपरः
सप्तमो वर्गः

वर्ग ७ **नाम संख्या ७**
पूर्वागत ६४
पूर्ण संख्या ७१

आठवां वर्ग

यह आठवां वर्ग यज्ञ सम्बन्धी शब्दों का है। यज्ञ सम्बन्धी शब्दों से अभिप्राय उन शब्दों से है, जिनसे यज्ञ अथवा यज्ञ सम्बद्ध वस्तुओं अथवा व्यक्तियों का बोध हो। श्री महाराज ने इनमें से होता तथा यज्ञ इन दो शब्दों का व्याख्यान किया है। वेद में ये दोनों ही शब्द भगवान् के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

यज्ञ

यज्ञ शब्द पर श्रीमहाराज लिखते हैं—

१—(क) **यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु इस धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। 'इज्यते सर्वैर्ब्रह्मादिभिर्जनैः स यज्ञः' सब ब्रह्मादिक जिसकी पूजा करते हैं उसका नाम यज्ञ है यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः यज्ञ का नाम विष्णु है और विष्णु नाम है व्यापक का इस श्रुति से भी परमेश्वर का नाम यज्ञ है।** (स० प्र० प्र० सं० पृ० १५)

(ख) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु इस धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। 'यज्ञो वै विष्णुः' (कौ० ब्रा० ४।२) यह ब्राह्मण ग्रन्थ का बचन है 'यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः' जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता है और सब विद्वानों का पूज्य है और ब्रह्मा से ले के सब ऋषि मुनियों का पूज्य था है और होगा इससे उस परमात्मा का नाम यज्ञ है। (स० प्र० पृ० ९ स्तं० १)

२—निरुक्त में आचार्य यास्क ने भी यज्ञ शब्द का निर्वचन किया है। वहाँ का लेख है **'यज्ञः कस्मात् प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः, याच्ञो भवतीति वा, यजुरुन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः, यजूंष्येनं नयन्तीति वा'** (३।१९)। इस प्रकार आचार्य यास्क ने निरुक्त में इस शब्द के पाँच निर्वचन दिये हैं, जिनमें से तीन उनके हैं तथा दो आचार्य औपमन्यव के। प्रथम निर्वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शब्द के मूल में यज् धातु है ऐसा निरुक्तकार मानते हैं। **याच्ञो भवति** का आशय है याजक लोग यष्टा के लिये जिसमें किसी वस्तु की याचना करते हैं इसलिए उसे यज्ञ कहते हैं **'याचन्ते अस्मिन् इति यज्ञः'** यह निर्वचन काम्य-कर्मों की दृष्टि से है। **यजुरुन्नो भवति—यजूंष्येनं नयन्तीति वा** ये दोनों निर्वचन यह बता रहे हैं कि याग में मुख्यतः यजुर्वेद का उपयोग होता है। औपमन्यव

आचार्य **'बहुकृष्णाजिनः'** यह कहकर बताते हैं कि उसमें बहुत से कृष्ण-मृग के चर्म बिछाये जाते हैं। किसके लिये ? यजमान और ऋत्विजों के लिये तब **'यजमानार्थं नीयते इति यज्ञः'**। ये सब निर्वचन लौकिक वैदिक यज्ञों की दृष्टि से किये हैं।

इनमें से **'याचते अस्मात् सर्वं जगत्'** यह निर्वचन भगवान् में भी संगत हो जाता है।

३—विष्णुसहस्रनाम के—

(क) शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में निम्न तीन निर्वचन दिये हैं—

(i) **सर्वयज्ञरूपत्वात् यज्ञः**। अर्थात् भगवान् ही सर्व यज्ञ रूप हैं।

(ii) **यज्ञाकारेण प्रवर्तते इति यज्ञः**। यज्ञाकार से प्रवृत्त होने से भगवान् यज्ञ हैं।

(iii) **यज्ञात्मना यज्ञः**। यज्ञ की आत्मा होने से भगवान् यज्ञ हैं।

इन निर्वचनों के मूल में निम्न गीता वाक्य हैं—

(i) **त्रैविद्यां मां सोमपाः पूतपापाः**
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। (गी० ९-२०)

(ii) **अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।** (गी० ९-२४)

(ख) वैष्णव सम्प्रदायानुसारी व्याख्याता श्रीरंगनाथ लिखते हैं—

यज्ञतत्साधनतत्फलावधित्वेन प्रतिपादितः।

इस निर्वचन के मूल में—

'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यम् अहमग्निरहं हुतम्॥ (गी० ९-१५)

यह गीता वचन निहित है।

(ग) निरुक्तिकार इस शब्द के दो अन्य निर्वचन करते हैं—

(i) **यज्ञाराध्यतया यज्ञः**। यज्ञ द्वारा आराध्य होने से भगवान् यज्ञ कहाते हैं।

(ii) **जपयज्ञरूपत्वात् यज्ञः**। जपयज्ञनिरुप्य होने से वे यज्ञ हैं।

इस दूसरे निर्वचन का मूल **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** (गी० १०-२५) इस गीता वचन में निहित है।

४—वायु पुराण में लिखा है—

इज्यत्वादुच्यते यज्ञः। (वा० पु० पू० ५-४१)

५—नीलकण्ठ इस शब्द का निर्वचन इस प्रकार करते हैं—**यजति जीवेशयोः संगतिं करोतीति यज्ञः।** यह निर्वचन यज् धातु के संगतिकरण अर्थ को दृष्टि में रखकर किया है। उपनिषत् कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस् तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठ १-२-२२)

आशय यह कि जब प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं तो वे जीव को दर्शन देते हैं। वे प्रसन्न भी ऐसे होते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०।९-१०)

६—एक निर्वचन यह भी है—**यमनं जानातीति यज्ञः।** जगत् का नियमन करने से भगवान् यज्ञ कहाते हैं।

यज्ञ शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर यज्ञ शब्द भगवान् का वाचक है—

यज्ञो बभूव स आबभूव स प्रजज्ञे स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सोऽस्मासु द्रविणमादधातु॥
(अथर्व० ७।५।२)

स यज्ञः = ब्रह्मा से लेकर उत्तरकाल में उत्पन्न होने वाले सभी प्राणियों के पूज्य होने से, यज्ञ द्वारा उपास्य होने से, सब यज्ञों के अधिष्ठाता होने से, जीव के साथ अपना संगम कराने से तथा संसार का नियमन करने से जिन्हें यज्ञ कहते हैं, वे भगवान् **बभूव** = विद्यमान हुए **आबभूव** = सब ओर विद्यमान हुए **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** (यजु० ४०।१) **स प्रजज्ञे** = उन्होंने यह सम्पूर्ण स्थावर जंगमात्मक जगत् उत्पन्न किया है। **पुनः वावृधे** = और इसे बढ़ाया भी है **स देवानामधिपतिर्बभूव** = और वह ब्रह्मा आदि विद्वानों तथा दिव्य पदार्थों के अधिपति पालक, रक्षक हुए। **स अस्मासु द्रविणमादधातु** = वे हमें ऐश्वर्य प्रदान करें॥

यज्ञाय नमः

होता

इस शब्द पर श्री महाराज लिखते हैं—

१—हु दानादनयोः आदाने चेत्येके इस धातु से होता शब्द सिद्ध हुआ है। 'यो जुहोति स होता' जो जीवों को देने योग्य पदार्थों के दाता और ग्रहण करने योग्य पदार्थों के ग्राहक हैं इससे उस ईश्वर का नाम होता है। (स० प्र० पृ० ९ स्तं० १)

अस्य वामस्य पलितस्य होतुः' (ऋ० १।१६४।१) मन्त्र में आये 'होतृ' पद की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं 'होतुः 'ह्वातव्यस्य' अर्थात् जो पुकारे जाने योग्य है। इसका सीधा अर्थ यह है कि आचार्य यास्क की सम्मति में होता शब्द ह्वेञ् धातु से बनता है। तब निर्वचन होगा आहूयते जनैरिति होता' अर्थात् जिन्हें लोग पुकरते हैं, इसलिये वे होता कहाते हैं। श्रुति कहती है 'मां हवन्ते पितरं न जन्तवः' (ऋ० १०।४८।१) अर्थात् जीव मुझे पिता के समान पुकारते हैं।

३—श्री खण्डराज दीक्षित बाह्वृचसन्ध्यापद्धति भाष्य में लिखते हैं— 'होमाधारः होता'। अर्थात् होम का आधार होने से भगवान् होता कहाते हैं।

४—जब हु धातु का अर्थ अदन होगा तब निर्वचन होगा 'जुहोति प्रलये जगत् इति होता' प्रलय में जगत् का संहार करने से भगवान् होता है।

होता शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—निम्न स्थल पर होता शब्द भगवान् का वाचक है—

> अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
> अयं स जज्ञे ध्रुव आनिषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वावृधानः॥
>
> ऋक् ६-९-४

अयं होता = सबके द्वारा पुकारे जाने से होता कहाने वाले ये भगवान् **प्रथमः** = सर्वप्रथम विद्यमान थे। **मर्त्येषु इदम् अमृतं ज्योतिः** = सब पदार्थ विनाशी हैं केवल यही अमृत ज्योति है। इसलिये हे मुमुक्षुओ **इमं पश्यत** = इसी का दर्शन करो। उपनिषत् कहती है **'तमेव विदित्वाऽमृतत्वमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (श्वेता० ३।८)। **स अयम् ध्रुवः अनिषत्तः जज्ञे** = यही नित्य कूटस्थ तथा सर्वव्यापक रूप से जाना गया है। **अमर्त्यः** अमरणधर्मा यही भगवान् **तन्वा वर्धमानः अस्ति** = अपनी अंगभूत प्रकृति से जगत् को

बनाते तथा बढ़ाते हैं। आशय यह कि सर्वसंहारकर्ता भगवान् ही सृष्टि के प्रारम्भ में थे और बाद को भी वे ही बने रहते हैं। इसलिये इस सम्पूर्ण क्षय विनाशी विकारी जगत् में वे ही अमृत तथा प्रकाशस्वरूप हैं। इसलिये उन्हीं को जानना मनुष्य का कर्तव्य है। यद्यपि वे स्वयं नित्य कूटस्थ अविनाशी हैं तथापि प्रकृति द्वारा जगत् को बढ़ाया करते हैं।

होत्रे नमः

इत्यवशिष्टनामाख्ये पञ्चमे प्रकरणे
यज्ञसम्बन्धिशब्दानाभीश्वरपरत्व-
निरूपणपरः अष्टमः वर्गः

वर्ग ८ नामसंख्या २
पूर्वागत ७१
सम्पूर्ण ७३

शेष चार प्रकरणों के नाम	—३५
पंचम प्रकरण के नाम	—७३
सम्पूर्ण योग	—१०८

इति श्रीसंगीतकलासर्वस्वायुर्वेदविदांवरश्रीलालविहारितनुजनुषा
राधाम्बिकागर्भरत्नाकर-सुधाकरेण हरद्वारीयगुरुकुले
पराचीर्णब्रह्मचर्यव्रतेनानेकवारं ब्रह्मपारायणमहा-
यज्ञेषु कृतब्रह्मत्वेन वेदालंकारेण साहित्य-
दर्शनाचार्येण पञ्चतीर्थेन एम. ए. इत्यु-
पाधिभाजा श्रीविद्यासागरशास्त्रिणा
विरचितायाम्

अष्टोत्तरशतनाममालिकायां
सख्याख्यायां
पञ्चमं प्रकरणम्।

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

शुभं भूयाद् अध्येतुः कर्तुश्च

व्यवहृत ग्रन्थों के विशिष्ट संस्करण

१—**सत्यार्थप्रकाश**—प्रथम संस्करण सन् १८७५ का छपा हुआ। इसका संकेत 'स० प्र० प्र० सं०' इस प्रकार देकर पृष्ठ संख्या का निर्देश किया है।

२—**सत्यार्थप्रकाश**—गोविन्दराम हासानन्द द्वारा प्रकाशित और कलकत्ता से मुद्रित। इसके अनुसार पृष्ठ और स्तम्भ (कालम) का निर्देश किया है। इनका संकेत 'स० प्र० पृ० स्तं०' इस प्रकार दिया है।

३—**निरुक्त**—दुर्गाचार्य टीका सहित वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई का छपा।

४—**निरुक्त-समुच्चाय**—वररुचिकृत। युधिष्ठिर मीमांसक सम्पादित, लाहौर में छपा।

५—**सन्ध्याभाष्यसमुच्चय**—आनन्द आश्रम पूना का छपा। इसमें ६ भाष्य छपे हैं। ग्रन्थकार ने पृथक् पृथक् भाष्यों की पृथक् पृथक् पृष्ठ संख्या दी है। हमारे पास जो द्वितीय संस्करण है उसमें पूरे संग्रह में आदि से अन्त तक क्रमिक संख्या है, जो इस प्रकार है—

१—बाह्वृच संध्याभाष्य	खण्डराज	पृष्ठ	१–३३
२—बाह्वृच संध्यापद्धतिभाष्य		"	३५–६०
३—बाह्वृच संध्याभाष्य	मध्वाचार्य	"	६१–८४
४—तैत्तिरीय संध्याभाष्य	कृष्ण पण्डित	"	८५–१५८
५— " "	भट्टोजि दीक्षित	"	१५९–१६६
६— " "	सायणाचार्य	"	१६७–१८४

इन भाष्यों की आदि की संख्या से लेखक द्वारा प्रदत्त पृष्ठ संख्या की गणना करने से वह पृष्ठ संख्या सुगमता से ज्ञात हो जाएगी।

अष्टोत्तरशतनाममालिका-व्याख्या
में
व्याख्यात नामों की सूची

निम्न ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होंगे

नया प्रकाशन

१. छन्दः-शास्त्र का इतिहास
२. शिक्षा-शास्त्र का इतिहास
३. निरुक्त-शास्त्र का इतिहास
४. पाणिनीय गणपाठ का आदर्श संस्करण

नवीन संस्करण

१. वैदिक-स्वर-मीमांसा (छप रही है)
२. भागवृत्ति-संकलनम्
३. निरुक्त-समुच्चय (वररुचि-कृत)
४. शिक्षा-सूत्राणि (पाणिनीय-आपिशल-चान्द्र)
५. वेदार्थ-मीमांसा अर्थात् वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन ।

प्राच्य-विद्या

अनुसन्धान कार्य को प्रसारित करने के लिए "प्राच्य-विद्या" नाम्नी उच्चकोटि की त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी नियमित रूप से शीघ्र आरम्भ होगा ।

इसका वार्षिक चन्दा ८) रु० होगा । प्रतिष्ठान के सभी प्रकार के सदस्यों को यह विना मूल्य दी जायगी ।

विशेष—प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित तथा अन्य प्रकाशकों की उच्चकोटि की प्रसारित पुस्तकों का बृहत् सूचीपत्र बिना मूल्य मँगवावें ।

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४।३१२ रामगंज
अजमेर

४९४३ रेगरपुरा, गली ४०
करोल बाग, नई दिल्ली ५

प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित तथा प्रसारित वाङ्मय

१. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (भाग १) (यु० मी०) १२—००
२. " " " " (भाग २) " " १०—००
३. वैदिक-स्वर-मीमांसा " " ४—००
४. वैदिक-छन्दोमीमांसा " " ४—५०
५. ऋग्वेद की ऋक्संख्या " " ०—५०
६. आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय " १—००
७. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास " ६—००
८. ऋषि दयानन्द की पद-प्रयोग शैली " १—५०
९. यजुर्वेदभाष्य-संग्रह (पञ्जाब शास्त्री परीक्षा में नियत) सं०यु०मी० ४—००
१०. क्षीरतरङ्गिणी (धातुपाठ की क्षीरस्वामी कृत व्याख्या) " " १२—००
११. दैवम्-पुरुषकारवार्तिकसहितम् (धातुपाठ विषयक) " " ६—००
१२. संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि (श्री पं० कपिलदेव एम० ए०) ८—००
१३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (परिशिष्ट सहित) ७—७५
१४. यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग) (पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु) १६—००
१५. वेदविद्या-निदर्शन (पं० भगवद्दत्त) १२—५०
१६. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग) " १८—००
१७. " " " " (द्वितीय भाग) " २०—००
१८. आयुर्वेद का इतिहास (पं० सूरमचन्द कविराज बी० ए०) ८—००
१९. भागवत-खण्डनम् (स्वामी दयानन्द सरस्वती) ०—५०
२०. विरजानन्द-प्रकाश (पं० भीमसेन शास्त्री एम० ए०) २—००
२१. दयानन्द-जीवनी-साहित्य (पं० विश्वनाथ शास्त्री एम० ए०) ००—४०
२२. अष्टाध्यायी मूल (शुद्ध संस्करण) ००—६२
२३. उरु ज्योति (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल) ३—००
२४. योगदर्शन (व्यासभाष्य भोजवृत्ति-भाषानुवादसहित) ५—००
२५. सांख्यदर्शन का इतिहास (श्री पं० उदयवीर शास्त्री) ३०—००
२६. सांख्यसिद्धान्त " " १६—००
२७. सांख्यदर्शनभाष्य " " ८—००
२८. संस्कृत सुभाषित सौरभ (श्री पं० मुनिदेव उपाध्याय) २—५०

प्राप्ति-स्थान
२४/३१२ रामगंज, अजमेर
४९४३ रेगरपुरा, गली ४०, करौलबाग, नई दिल्ली ५।

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

आवश्यक निवेदन

भारतीय प्राचीन वाङ्मय इतिहास और संस्कृति के

मौलिक शोधपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थों के

परिचय और क्रय के लिए

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

को

सदा स्मरण करिए

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४/३१२ रामगंज
अजमेर

४९४३ रेगरपुरा, गली ४०
करोलबाग, नई दिल्ली-५